भाषाविज्ञान के सिद्धान्त

सामयिक प्रकाशन

प्राक्कथन

भाषाविज्ञान पर हिन्दी मे अब तक कई विद्वानो के ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं र विभिन्न विद्वानो के लेखो का सकलन पहली बार ही इस ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित ो रहा है । ऐसे सकलन की उपयोगिता किसी से छिपी नहीं । इसमे प्रत्येक विद्वान ो अपनी रुचि के विषय पर जमकर लिखने का सुयोग प्राप्त होता है और पाठक को विभिन्न पण्डितो के चिन्तन का एकत्र लाभ होता है । प्रस्तुत सकलन मे 'भाषा-सम्बन्धी टिप्पणियाँ' शीर्षक लेख को छोड शेष सभी विद्वान् लेखको द्वारा सर्वथा मौलिक ढग से लिखे जाकर पहली बार प्रकाश मे आ रहे हैं । सकलन को विभिन्न विश्वविद्यालयो के छात्रो की दृष्टि से अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है । साथ ही सामान्य पाठक भी इसे पढकर विषय का सम्यक् परिचय प्राप्त कर सकता है । इस सकलन की एक अन्य विशेषता है इसकी सक्षिप्तता । इतने कम पृष्ठो मे भाषाविज्ञान के सिद्धान्तपक्ष से सम्बद्ध सम्पूर्ण सामग्री का सरल, रोचक, एव प्रामाणिक ढग से प्रस्तुतीकरण विद्यार्थियो के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी आशा है ।

जिन विद्वानो ने मेरा अनुरोध स्वीकार कर इस सकलन के लिए लेख लिखने का कष्ट उठाया है उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

रामेश्वरदयालु अग्रवाल

विषय-सूची

पृष्ठ

नाम से इस विषय का प्राचीन और नवीन दोनों ही प्रकार का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है अतः यही नाम सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

सामान्य परिचय—जैसा कि भाषाविज्ञान नाम से ही प्रकट होता है यह शास्त्र भाषा का विज्ञान है। भाषायाः विज्ञानम् भाषाविज्ञानम् अर्थात् भाषा का विज्ञान। इस प्रकार भाषाविज्ञान एक समासयुक्त पद है। अन्य अनेक शास्त्रों की संज्ञाओं की भाँति ही भाषाविज्ञान भी एक अन्वर्थ संज्ञा है। 'भाषा' और 'विज्ञान' इन दो शब्दों से बना यह नाम इस शास्त्र की आत्मा एवं स्वरूप का पूर्णतया परिचय करा देने में समर्थ है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दो शब्दों की व्याख्या यहाँ अपेक्षित है।

'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष्=व्यक्तायां वाचि' धातु से निष्पन्न है तथा 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्ग-पूर्वक 'ज्ञा' धातु से 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगाने पर बना है। सामान्यरूप से भाषा का अर्थ है 'बोली' तथा 'विज्ञान का अर्थ है 'विशेष ज्ञान', किन्तु यहाँ इन दोनों ही शब्दों पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है।

भाषा—मानव की प्रगति में भाषा का विशेष योगदान है। हमारे पूर्वपुरुषों के सारे अनुभव हमें भाषा के माध्यम से प्राप्त हुए हैं। हमारे सभी शास्त्र और उनसे होनेवाला सारा लाभ भाषा का ही परिणाम है। महाकवि दण्डी के शब्दों में :

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्यादर्श, १।४)

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता यदि सारे संसार में शब्दस्वरूप ज्योति (भाषा) का प्रकाश न होता। स्पष्टतः यह बात मानव-भाषा के विषय में ही कही गई है क्योंकि सामान्यरूप से तो पशु-पक्षियों की भी अपनी भाषा होती है जिसमें वे अपने सुख-दुःख तथा संकट को प्रकट करते हैं, किंतु उसके माध्यम से कोई प्रगति उन्होंने नहीं की है। पशु-पक्षियों की इस बोली को 'अव्यक्त वाक्' कहा गया है तथा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है। 'अव्यक्त वाक्' में शब्द और अर्थ दोनों की ही अस्पष्टता बनी रहती है। इसके विपरीत मनुष्यों की भाषा 'व्यक्त वाक्' कही गई है। क्यों ? यहाँ शब्द और उनमें प्रयुक्त वर्ण स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं और वे सार्थक होते हैं। इसी के साथ यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि मनुष्य भी कभी-कभी जब अपने विचारों को अंग-भंगिमा (gesture) और मुख-विकृति (grimaces)के द्वारा प्रकट करता है तो सामान्यरूप से वह भाषा होते हुए भी 'व्यक्त वाक्' नहीं है। महाभाष्यकार के अनुसार 'व्यक्त' का अभिप्राय वर्णात्मक होने से ही है (महाभाष्य १-३-४८)। यह ठीक है कि अंग-विशेष आदि पर आधारित भाषा की सहायता से कभी-कभी विचारों के प्रकट करने में बड़ी सहायता मिलती है और उसमें अंगों का विशेष या अंगों की चेष्टाएँ स्वयं ही विचारों की प्रतीक होती हैं, किन्तु विचारों की अभिव्यक्ति के लिए सर्वोपयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण साधन वर्णात्मक भाषा ही है। इसमें विभिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिये कुछ निश्चित उच्चरित या

कल्पित संकेतों (ध्वनियों) का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार "विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्दसमूह ही भाषा है जिसके द्वारा हम अपने मनोभाव दूसरों के प्रति सरलता से प्रकट करते हैं"।[1]

विज्ञान—'ज्ञान' शब्द का अर्थ है 'किसी विषय का सामान्य परिचय या जानकारी' किंतु 'विज्ञान' है 'विशिष्ट ज्ञान अर्थात् किसी वस्तु का विशेष ज्ञान'। किसी पेड़-पौधे को देखकर उसका नाम लेना और उसके आकार-प्रकार का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लेना सामान्य ज्ञान है। इसके साथ ही वह पेड़-पौधा कहाँ उगता है, कैसे जलवायु में उगता है और वनस्पतिशास्त्र की दृष्टि से वह कौन-से वर्ग में परिगणित होता है आदि सूक्ष्म और विशेष बातों का ज्ञान उसका विज्ञान है। पहले ज्ञान तदुपरान्त विज्ञान, यही क्रम है। प्रथम जो वस्तु ज्ञान की सीमा में आती है वही धीरे-धीरे विशेष ज्ञान प्राप्त करने पर विज्ञान बन जाती है। बाद में विज्ञान भी जब सामान्य ज्ञान-सा बन जाता है तो उसे पुनः विशेष जानकारी के द्वारा विज्ञान बना दिया जाता है। जैसे, सर्वप्रथम किसी बाँस जैसी वस्तु को जंगल में उगा हुआ देखकर उसे तोड़-मरोड़कर और उसका रस चखकर किसी ने गन्ने का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाद में उसे काटा, उसके टुकड़े किये, और एक पौधे से अनेक पौधे उत्पन्न कर लिये, यह विज्ञान हो गया। जब गन्ने का उत्पादन सामान्य ज्ञान बन गया तो उससे बना गुड़ विज्ञान और गुड़ के समान्य ज्ञान बन जाने पर सफेद दानेदार चीनी विज्ञान बन गई।

ऊपर 'भाषा' और 'विज्ञान' इन दोनों शब्दों की व्याख्या के उपरान्त अब भाषा-विज्ञान को समझना सरल होगा। गन्ने की भाँति भाषा भी एक प्राकृतिक वस्तु है जो मनुष्य को ईश्वर की देन है। भाषा का निर्माण मनुष्य के मुख से निःसृत स्वाभाविक ध्वनियों (वर्णों) से होता है। इस भाषा का सामान्य ज्ञान उसके बोलने तथा सुनने वाले सभी व्यक्तियों को हो जाता है। उसी के द्वारा वह अपने विचारों और मनोभावों को दूसरों पर प्रकट करता है तथा दूसरे के विचारों एवं मनोभावों को ग्रहण करता है। यह भाषा का सामान्य ज्ञान है। किंतु भाषा कब बनी ? कैसे बनी ? उसका आदिम स्वरूप क्या था ? उसमें कब-कब, क्या-क्या परिवर्तन हुए ? उन परिवर्तनों के कारण क्या हैं ? अथवा सब मिलाकर भाषा कैसे विकसित हुई ? उस विकास के कारण क्या हैं ? कौन-सी भाषा किस दूसरी भाषा से समानता या विषमता रखती है ? यह सब भाषा का विशेष ज्ञान अर्थात् भाषाविज्ञान है।

अध्ययन के प्रकार—इस प्रकार भाषा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषाविज्ञान है और किसी भी विषय का पूर्ण अध्ययन तभी सम्भव है जब हम एक निश्चित प्रक्रिया को अपनाकर उसमें प्रवृत्त हों। भाषाविज्ञान भी किसी भाषा के कारण-कार्य-मूलक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिए कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बँधकर चलता है। उन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषाविज्ञान के

---

१. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी कृत 'भारतीय भाषाविज्ञान', पृ० ०६।

अध्ययन के तीन प्रकार हमें उपलब्ध होते हैं :

प्रथम, जिसमें किसी एक भाषा के केवल एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या या वर्णन रहता है। उस काल में उस भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं ? पद-रचना कैसी थी ? वाक्य-रचना कैसी थी ? आदि आदि का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमे उस एक भाषा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। भाषाविज्ञान के इस प्रकार को **वर्णनात्मक भाषाविज्ञान** कहा जाता है।

द्वितीय, जिसमें किसी एक भाषा का, उसके विभिन्न अंगों—ध्वनि, पद-रचना, वाक्य-रचना आदि—के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमें किसी भाषा के प्राचीन काल से लेकर आज तक के साहित्यिक, असाहित्यिक, अथवा मृत आदि सभी रूपों का परिचय मिल जाता है। भाषा के इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययन मे प्राचीन साहित्य, पुरातन ग्रन्थ, तथा शिलालेख आदि सभी हमारे अध्ययन के साधन बन जाते हैं। भाषाविज्ञान के इस प्रकार को **ऐतिहासिक भाषाविज्ञान** का नाम दिया गया है।

तृतीय, जिसमे किन्ही दो या दो से अधिक भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जिन भाषाओ को अध्ययन का विषय बनाया जाता है उनके विभिन्न अंगो की तुलना किसी एक काल के आधार पर अथवा विभिन्न कालों के आधार पर की जाती है। इसी कारण इसे **तुलनात्मक भाषाविज्ञान** का नाम दिया गया है।

भाषाविज्ञान की परिभाषा—भाषाविज्ञान के विषय में इतना कुछ जान लेने के पश्चात् अब भाषा-विज्ञान की विभिन्न परिभाषाओ को समझना तथा उसकी एक उपयुक्त परिभाषा करना सभव होगा।

(१) सर्वप्रथम डॉ० श्यामसुन्दरदास के 'भाषा-रहस्य' नामक ग्रन्थ मे दी गई परिभाषा इस प्रकार है : "भाषाविज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट, उसके विकास, तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है।"

(२) डॉ० मगलदेव शास्त्री के अनुसार "भाषाविज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें (क) सामान्य रूप मे मानवी भाषा का, (ख) किसी विशेष भाषा की रचना और इतिहास का, और अन्ततः (ग) भाषाओं या प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक समानताओं और विशेषताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है"। (तुलनात्मक भाषाशास्त्र)

(३) डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार "जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक, और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति, एवं विकास आदि की सम्यक् व्याख्या करते हुए इन सभी के विषय मे सिद्धान्तो का निर्धारण हो, उसे भाषाविज्ञान कहते हैं"। (भाषा-विज्ञान)

उपर्युक्त तीनो ही परिभाषाओं को देखने से ज्ञात [illegible] कि उनमें परस्पर कोई अन्तर नहीं है। डॉ० श्यामसुन्दरदास की [illegible] '[illegible]-विज्ञान'

की दृष्टि से रखा गया है, वहाँ बाद वाले दोनों विद्वानों ने परिभाषा में भाषाविज्ञान के अध्ययन के स्वरूपों को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। वस्तुत परिभाषा की अपनी विशेषता होती है—संक्षिप्तता। इस दृष्टि से यदि हम चाहें तो भाषाविज्ञान की परिभाषा निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं "भाषाविज्ञान वह विज्ञान है जिसमें मानव-प्रयुक्त ध्वनि वाक् का पूर्णतया वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है"।

भाषाविज्ञान का क्षेत्र—जहाँ तक मानव और उसकी भाषा है वहाँ तक भाषाविज्ञान का भी क्षेत्र है क्योंकि इस विज्ञान का सम्बन्ध न केवल ससार भर के सभ्य मनुष्यों की भाषा से है अपितु इसके क्षेत्र के अन्तर्गत असभ्य एवं जगली मनुष्यों की बोलियाँ भी आती है। बल्कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन बोलियों का महत्त्व और अधिक है। इस प्रकार भाषाविज्ञान में केवल साहित्यिक भाषा का ही वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जाता अपितु असाहित्यिक और मात्र बोलचाल की भाषा का भी अध्ययन किया जाता है। साथ ही मृत भाषाओं का अध्ययन भी उसकी परिधि में आता है।

भाषाविज्ञान का सम्बन्ध किसी भाषा के किसी एक विशेष काल के तथ्यों से ही नहीं अपितु सभी कालों के तथ्यों से है जिन्हें वह न केवल एकत्र, व्यवस्थित, और वर्गीकृत करता है बल्कि उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार इसे चाहें तो भाषा का दर्शनशास्त्र या तर्कशास्त्र भी कह सकते हैं। तुलनात्मक भाषाविज्ञान में विशेष रूप से भाषा के जीवन के भिन्न-भिन्न कालों के तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके उसका इतिहास प्रस्तुत किया जाता है। इसमें ध्वनियों के उच्चारण, उनसे बने अक्षरों, अक्षरों से बने शब्दों, और उन शब्दों से बने वाक्यों की रचना आदि अनेक विषयों का विवेचन किया जाता है। इसमें भाषा की उत्पत्ति, उसका विकास, और उसमें हुए परिवर्तन आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषय समाहित हैं। यही कारण है कि भाषाविज्ञान की अध्ययनगत समस्या स्थिर न होकर गत्यात्मक है।

भाषाविज्ञान के अंग

यद्यपि अपने विषय का पूर्ण ज्ञान कराना ही प्रत्येक विज्ञान का लक्ष्य होता है, तथापि इसमें सफलता के लिए उसे उस विषय को विभिन्न भागों में विभाजित करके उसके प्रत्येक अंग का सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ता है। विषय के विभिन्न अंगों का यह विभाजन ही वस्तुत उस विषय का पूर्ण ज्ञान कराने में सहायक होता है। इस दृष्टि से भाषा विज्ञान के अध्ययन के प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं :

(१) ध्वनिविज्ञान (Phonology)
(२) पदविज्ञान (Morphology)
(३) वाक्यविज्ञान (Syntax)
(४) अर्थविज्ञान (Semantics)

इन्हें क्रमशः इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता :

(१) ध्वनिविज्ञान—स्वना वाक् या मानव-भाषा के अध्ययन में सर्वप्रमुख तत्त्व ध्वनि है। ध्वनि के अभाव में भाषा का भवन ही खड़ा नहीं हो सकता। अतः भाषाविज्ञान में भी ध्वनि के अध्ययन को सर्वप्रमुख स्थान दिया जाता है और इस प्रकार के अध्ययन को ध्वनि-विज्ञान का नाम दिया जाता है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम मानव-शरीर के उच्चारणोपयोगी अवयवों जैसे मुख, जिह्वा आदि का परिचय कराया जाता है और तदुपरान्त उनसे उत्पन्न ध्वनियों या वर्णों का स्थान और प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है। पुन: कालक्रम से उन ध्वनियों में कब-कब, कैसे-कैसे विकार हुए यह बतलाया जाता है, उनके कारणों को प्रस्तुत किया जाता है, और अन्त में अध्ययन के आधार पर कुछ निश्चित ध्वनि-नियमों का निर्धारण किया जाता है।

संक्षेप में उच्चारणावयव, ध्वनियों का वर्गीकरण, ध्वनि-विकार की दिशाएं और कारण, तथा ध्वनि-नियम ध्वनि-विज्ञान के विषय हैं।

(२) पदविज्ञान—ध्वनियों को मिलाकर पद या शब्द बनाये जाते हैं। अतः ध्वनियों के अध्ययन के उपरान्त भाषाविज्ञान में द्वितीय स्थान पर पद-विज्ञान का महत्त्व है। इसके अन्तर्गत पद-रचना या पदों का निर्माण, उनके प्रकार जैसे संज्ञा सर्वनाम आदि, पदांश अर्थात् पद के अर्थसूचक तथा सम्बन्धसूचक अंश जैसे धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का विचार किया जाता है।

(३) वाक्यविज्ञान—जिस प्रकार विभिन्न ध्वनियों को मिलाकर पद बनते हैं, उसी प्रकार विभिन्न पदों को मिलाकर वाक्य बनते हैं। इसके अन्तर्गत वाक्य-रचना किस प्रकार होती है, कितने प्रकार के वाक्य होते हैं, आदि विषयों पर ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है।

(४) अर्थविज्ञान—ध्वनि, पद, और वाक्य भाषा का शरीर हैं, अर्थ भाषा की आत्मा है। शरीर पर विचार कर लेने के उपरान्त भाषा की आत्मा—अर्थ—का साक्षात्कार करना सम्भव होता है। अतः अर्थविज्ञान भी भाषाविज्ञान का महत्त्वपूर्ण अंग है। अर्थविज्ञान के अन्तर्गत पदों या शब्दों का निश्चित अर्थों में निर्धारण कैसे हुआ, कालक्रम से उनके अर्थ कैसे बदल गए, अर्थ-परिवर्तन के क्या कारण है, आदि विषयों पर विचार किया जाता है।

इन उपर्युक्त प्रमुख अंगों के अतिरिक्त कुछ अन्य गौण विषय भी भाषाविज्ञान के अन्तर्गत आते है, जैसे (१) भाषा की उत्पत्ति, (२) विश्व की भाषाओं का वर्गीकरण, (३) शब्दों की व्युत्पत्ति (Etymology), (४) शब्द-समूह (Vocabulary), (५) लिपि (Script), तथा (६) प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology या Urgeschichte) अर्थात् भाषाविज्ञान के आधार पर प्राग्-इतिहास-काल की खोज) आदि। इनमें से प्रथम चार अंगों का अध्ययन पर्याप्त विकसित हो चुका है। बादवाले विषयों पर अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ है, अतः उनके अध्ययन की दिशाएँ भी अभी अधिक स्पष्ट नहीं हैं।

भाषाविज्ञान की उपयोगिता—साधारणतः प्रत्येक विज्ञान स्वयं में एक निरपेक्ष अध्ययन होता है । वह उपयोगिता की अपेक्षा ज्ञानवर्धन की दृष्टि से अधिक किया जाता है । फिर भी मानव-स्वभाव उसमें कोई-न-कोई उपयोगिता खोज ही लेता है। भाषाविज्ञान का भी अपना निरपेक्ष लक्ष्य तो यही होता है कि उसके द्वारा हम प्रत्येक भाषा अथवा दोनों के विभिन्न अवयवों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन द्वारा उसकी संरचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवर्धन में योग दें, पर इस प्रकार के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता ।

(१) भाषाविज्ञान की सर्वप्रथम उपयोगिता तो यही है कि वह भाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न हमारी सभी जिज्ञासाओं का समाधान करके हमें न केवल मानसिक तृप्ति प्रदान करता है अपितु हमारी भाषा-सम्बन्धी पकड़ भी गहरी बनाता है ।

(२) प्रागैतिहासिक खोजों के सम्बन्ध में भाषाविज्ञान की बड़ी भारी उपयोगिता है । भाषा की ऊपरी परत के नीचे इतिहास के न जाने कितने सन्-संवत् बिखरे पड़े हैं । वस्तुतः भाषा के प्रत्येक शब्द के बाह्य स्वरूप के भीतर विस्तृत व्याख्यान छिपे पड़े हैं । प्रागैतिहासिक काल के सम्बन्ध में अनेक तथ्यों का ज्ञान हमने भाषाविज्ञान के आधार पर ही प्राप्त किया है । इस क्षेत्र में भाषाविज्ञान की सामर्थ्य अन्य सभी विज्ञानों से बढ़कर है । विगत शताब्दी में मूल आर्य जाति तथा प्राचीन मिस्री और असीरी जातियों आदि की सभ्यता का उद्घाटन भाषाविज्ञान के द्वारा ही हो सका है ।

(३) मानवता के मानसिक विकास की कहानी कितनी विशाल है तथा वह कितने कौतूहलों से भरी हुई है इसका पता भाषाविज्ञान से ही चलता है । वह आदिम मानव से लेकर आज तक के मानव के मानसिक विकास जानने के लिए हमारा पथ-प्रदर्शक बन सकता है ।

(४) मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने से भिन्न व्यक्ति, समाज, और देश आदि के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक जानना चाहता है । इसका सबसे अच्छा उपाय विश्व की अधिक-से-अधिक भाषाओं को सीखना है । इस कार्य में भाषाविज्ञान हमारी बड़ी सहायता करता है, क्योंकि उसके सहारे हम अन्य भाषाओं को अधिक सुगमतापूर्वक सीख सकते हैं ।

(५) वि[illegible] ओं [illegible] - केवल ज्ञानार्जन की दृष्टि से उपयोगी
[illegible] के विषय में मनुष्य का दृष्टिकोण
विश्व-मैत्री की भावना प्रबल

[illegible] अर्थ-बोध में भी भाषाविज्ञान से

[illegible] प्राप्त करने
[illegible] सभी ज्ञान-विज्ञान

भाषा का ही आधार लेकर चलते हैं और भाषा का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से होने के कारण सभी विज्ञानों का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से जुड़ जाता है। इस दृष्टि से भी भाषाविज्ञान का महत्त्व एवं उपयोगिता सर्वमान्य है।

भाषाविज्ञान का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

मानव-समाज से सम्बन्ध रखने वाला ऐसा कोई भी विज्ञान अथवा शास्त्र नहीं है जिसका सम्बन्ध भाषाविज्ञान से न हो। इसका मुख्य कारण यही है कि मानव-समाज से सम्बन्धित विज्ञानों में भाषा का प्रयोग किसी-न-किसी रूप में होता ही है और जैसे ही किसी विज्ञान या शास्त्र का सम्बन्ध भाषा से जुड़ता है, वैसे ही वह भाषाविज्ञान से सम्बन्धित हो जाता है। इस दृष्टि से देखें तो जितने भी अन्य शास्त्र हैं उन सभी का सम्बन्ध भाषाविज्ञान से है, फिर भी कुछ विज्ञान या शास्त्र ऐसे हैं जिनका भाषाविज्ञान से घनिष्ठ या पूर्वापर का सम्बन्ध है, उन्हीं शास्त्रों के सम्बन्ध पर यहाँ विचार कर लेना उचित होगा।

भाषाविज्ञान तथा व्याकरण—भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों ही 'शब्द-शास्त्र' हैं। दोनों का भाषा से सम्बन्ध है और इसलिए दोनों का परस्पर भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ मुख्य अन्तर निम्नलिखित है :

(अ) व्याकरण का सम्बन्ध शब्द की आकृति से है अर्थात् वह शब्द के अर्थ-सूचक अंग और सम्बन्धसूचक अंग का विच्छेद करके उसकी आकृति का विशिष्ट ज्ञान कराता है। विशिष्ट ज्ञान कराने के कारण वह भी विज्ञान ही है। व्याकरण भाषा में प्रयुक्त शब्दों की साधुता और असाधुता पर विचार करता है। शुद्ध शब्द क्या है इसका उत्तर देता है, पर शब्दों के ये रूप कैसे बने, कहाँ से आये, कब आये, तथा क्यों आये आदि बातों का समाधान व्याकरण नहीं करता, इनका उत्तर हमें भाषा-विज्ञान से ही मिलता है। संक्षेप में व्याकरण केवल क्या का उत्तर देता है, जबकि भाषाविज्ञान क्यों, कैसे, और कब ? का उत्तर देता है। संस्कृत में नकारान्त 'करिन्' शब्द का तृतीया विभक्ति के एक वचन में 'करिणा' रूप बनता है, किन्तु इकारान्त 'हरि' शब्द से 'हरिणा' क्यों बना इसका उत्तर भाषाविज्ञान ही देता है और बतलाता है कि मानव का यह स्वभाव है कि वह एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से करता है। इसी कारण 'करिणा' के सादृश्य पर 'हरिणा' का भी प्रयोग होने लगा। व्याकरण में वर्णन की प्रधानता होती है किन्तु भाषाविज्ञान में व्याख्या एवं विश्लेषण की। व्याकरण भाषाविज्ञान के लिए सामग्री जुटाता है जिसके आधार पर भाषाविज्ञान सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है। भाषाविज्ञान में व्याकरण भी सम्मिलित है जबकि व्याकरण का क्षेत्र बहुत सीमित है। भाषाविज्ञान यदि अंगी है तो व्याकरण उसका केवल एक अंग है।

(आ) व्याकरण कालविशिष्ट एवं देशविशिष्ट होता है, उसका सम्बन्ध किसी कालविशेष एवं देशविशेष की किसी विशिष्ट भाषा से ही होता है। भाषा-

विज्ञान का सम्बन्ध सभी देशों और सभी कालों की सभी भाषाओं से होता है । मृत एवं अनुमान पर आधारित भाषाएँ भी उसके क्षेत्र में आ जाती हैं । व्याकरण प्रत्येक भाषा का पृथक्-पृथक् होता है, जबकि भाषाविज्ञान सभी का समान होता है । इसी कारण भाषाविज्ञान को 'व्याकरण का व्याकरण' भी कहा जाता है । शब्दों का शुद्ध प्रयोग सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है, किन्तु भाषा के सम्बन्ध में हमारी अनेक जिज्ञासाओं का समाधान भाषाविज्ञान के द्वारा ही होता है ।

(५) व्याकरण रूढ़िवादी है, भाषाविज्ञान प्रगतिवादी । व्याकरण की दृष्टि में किसी भी शब्द को सर्वत्र केवल उसी रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए, अन्यथा वह अशुद्ध माना जायगा । भाषाविज्ञान की दृष्टि में ऐसे अशुद्ध शब्द अपने पूर्ववर्ती शब्दों का विकास हैं, यथा, संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल 'सर्व' शब्द ही शुद्ध है, 'सब्ब' और 'सब' अशुद्ध, किन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि में ये शब्द 'सर्व' के ही विकसित रूप हैं ।

(६) व्याकरण का सम्बन्ध केवल शिष्ट एवं साहित्यिक भाषा से होता है पर भाषाविज्ञान का सम्बन्ध असभ्य एवं जंगली मनुष्यों की बोली से भी होता है, अपितु वह इन्हें अधिक महत्त्व देता है, क्योंकि इनके सहारे वह मूल भाषा तक शीघ्र पहुँच सकता है ।

उपर्युक्त अन्तर के होते हुए भी भाषाविज्ञान और व्याकरण एक दूसरे के उपकारी भी हैं । अपने द्वारा अशुद्ध ठहराये गये रूपों को भी भाषाविज्ञान द्वारा वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचित होने पर व्याकरण पुनः स्वीकार कर लेता है और उनके प्रयोग के लिए नये नियमों तक की रचना करता है । इस प्रकार भाषाविज्ञान व्याकरण को नई दृष्टि प्रदान कर उसका उपकारी सिद्ध होता है । इसी भाँति व्याकरण भी अपने द्वारा प्रस्तुत सामग्री के अध्ययन का अवसर देकर भाषाविज्ञान को सामान्य नियम बनाने में सहायता देता है । व्याकरण का सीमित क्षेत्र भी भाषाविज्ञान के द्वारा विस्तार प्राप्त कर लेता है ।

निष्कर्ष यह कि भाषा विज्ञान और व्याकरण का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

भाषाविज्ञान तथा साहित्य—भाषाविज्ञान एक विज्ञान है जबकि साहित्य एक कला । दोनों में पर्याप्त अन्तर है । भाषाविज्ञान में भाषा का अध्ययन उसके स्वरूप को जानने के लिये किया जाता है, जबकि साहित्य में भाषा का अध्ययन साहित्य के अर्थ को समझने की दृष्टि से किया जाता है । भाषाविज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से अधिक है, साहित्य का हृदय से । प्रथम के द्वारा मस्तिष्क की जिज्ञासा-वृत्ति शान्त होती है, द्वितीय के द्वारा हृदय की रसास्वादन-वृत्ति । प्रथम का क्षेत्र विस्तृत है क्योंकि उसमें साहित्य में अप्रयुक्त भाषाओं एवं बोलियों का भी अध्ययन होता है, द्वितीय का क्षेत्र सीमित है क्योंकि उसमें केवल साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन होता है ।

साथ ही साहित्य और भाषाविज्ञान एक-दूसरे के उपकारी भी हैं ।

भाषाओं के प्राचीन रूपों को सुरक्षित रखकर साहित्य भाषाविज्ञान को अध्ययन-सामग्री प्रदान करता है जिसके बिना उसका विकास सम्भव नहीं। इस प्रकार साहित्य भाषाविज्ञान के लिए कोषागार का कार्य करता है। वस्तुतः भाषाविज्ञान का तो जन्म ही संस्कृत, ग्रीक, और लैटिन के प्राचीन साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हुआ है। यदि संस्कृत, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश भाषाओं का साहित्य न होता तो किसी भी प्रकार आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विकास की रूप-रेखा ज्ञात न हो पाती। संस्कृत, ग्रीक, और लैटिन आदि भाषाओं के साहित्य के सहारे ही भाषाविज्ञानियों को मूल भारोपीय भाषा का अनुमानित ढाँचा खड़ा करने में सफलता मिल सकी है।

भाषाविज्ञान की सहायता से प्राचीन साहित्य का अर्थ ठीक-ठीक समझने में सहायता मिलती है। भाषाविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि प्राचीन वैदिक साहित्य में 'असुर' शब्द का अर्थ 'प्राणवान्' है, किन्तु बाद के संस्कृत साहित्य में वह 'राक्षस' या 'दानव' का वाचक बन गया है। इस अर्थ-परिवर्तन का कारण भाषाविज्ञान ही बताता है। प्राचीन मिस्री और असीरी साहित्य का अर्थबोध एवं उद्धार भी भाषाविज्ञान के द्वारा ही हो सका है। इसके साथ ही भाषाविज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एक साहित्य की भाषा से परिचित व्यक्ति दूसरे साहित्यों की भाषा और तदनन्तर साहित्य से भी शीघ्र ही परिचय प्राप्त कर सकता है। थोड़े ही समय में वह बहुभाषाविज्ञ के साथ-साथ बहुसाहित्यविद् भी बन सकता है।

इस प्रकार भाषाविज्ञान और साहित्य परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं।

भाषाविज्ञान तथा मनोविज्ञान—भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान दोनों ही विज्ञान हैं। एक में भाषा का अध्ययन किया जाता है, दूसरे में मन एवं मस्तिष्क का। भाषा और मन इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलतः इनके विज्ञानों का भी परस्पर सम्बन्धित होना स्वाभाविक है। भाषा मनुष्य के भावों एवं विचारों का वाहन है। मनुष्य के भावों एवं विचारों का उसकी भाषा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा की उत्पत्ति, शब्दों के अर्थ-परिवर्तन, एवं ध्वनि-परिवर्तन आदि कई समस्याओं का समाधान मनोविज्ञान के सहारे ही किया जाता है। भाषाओं के आदिम रूप को समझने में असभ्य एवं अविकसित जातियों की बोलियों का अध्ययन उपादेय सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार बच्चों द्वारा भाषा सीखने के प्रयत्नों के अध्ययन से आदि मानव द्वारा भाषाविकास की दिशा में किये गए प्रयत्नों का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, अतः बच्चों और आदिम जातियों के मनोविज्ञान की जानकारी भाषा की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो सकती है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह थोड़े प्रयत्न से अधिक कार्य निष्पन्न कर लेना चाहता है। इस प्रवृत्ति को संक्षेप में 'प्रयत्न-लाघव' कहते हैं। शब्दों की ध्वनियों के

स्पष्ट है उपर्युक्त दोनों विज्ञानों का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भाषाविज्ञान तथा इतिहास—भाषाविज्ञान तथा इतिहास का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को समझने में सहायक हैं। पदविन्यास, ध्वनि-विकार, अर्थविकार आदि को समझने में इतिहास भाषाविज्ञान का मार्गदर्शन करता है। हिन्दी में विभिन्न विदेशी शब्दों का आगमन कैसे-कैसे और कब-कब हुआ इसका पता देश के इतिहास एवं विदेशियों के आक्रमण की जानकारी आदि से चलता है। समाज में हुए धार्मिक, राजनीतिक, एवं सामाजिक परिवर्तनों से भाषा में भी अनेक परिवर्तन घटित होते हैं।

इसी भाँति भाषाविज्ञान के अन्तर्गत अनेक प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से विभिन्न देश-कालों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। आर्यों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का उद्घाटन भाषाविज्ञान की ही देन है। इतिहास भी जिन तथ्यों को प्रस्तुत नहीं कर पाता भाषाविज्ञान के द्वारा उनकी भी उपलब्धि हमें हो जाती है। प्रागैतिहासिक काल की खोजों से इस बात की सत्यता पूर्णरूप से प्रमाणित हो चुकी है। इतिहास और पुरातन संस्कृति के अनेक महत्त्वपूर्ण अंग हमें आज भाषाविज्ञान की कृपा से प्राप्त हुए हैं—प्राचीन मिस्री और असीरियन संस्कृति इसके प्रमाण हैं।

भाषाविज्ञान तथा भूगोल—भाषा का प्रयोग करनेवाला मानव किसी-न-किसी भौगोलिक वातावरण में रहता है। भौगोलिक वातावरण का वहाँ के निवासी मानवों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः मानव द्वारा प्रयुक्त भाषा भी मानव के विशिष्ट भौगोलिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। इस प्रकार भाषा-विज्ञान और भूगोल भी परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं।

भाषाविज्ञान के अन्तर्गत जिन भाषाओं का अध्ययन किया जाता है उनका

प्रचलन-क्षेत्र निर्धारित करने में भूगोल से बहुत सहायता मिलती है। भाषाओं में होने वाले परिवर्तन की गति का निश्चय भी भूगोल का ज्ञान प्राप्त किये बिना कठिन है, क्योंकि जिस प्रदेश में आवागमन की सुविधाएँ अधिक हैं, तथा भौगोलिक बाधाएँ—पर्वत, नदी आदि—कम हैं, वहाँ की भाषा में परिवर्तन अपेक्षाकृत वेग से होता है। इसके विपरीत घने जंगलों, ऊँचे पर्वतों, और बड़ी नदियों से घिरे प्रदेशों की भाषा में परिवर्तन बहुत देर से होता है।

शब्दों के अर्थ एवं ध्वनि के परिवर्तन पर भी भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, वैदिक काल में 'उष्ट्र' शब्द का अर्थ था 'जंगली भैंसा', किन्तु जब आर्य लोग फारस की ओर बढ़े तो वहाँ उन्होंने सबसे बड़े और उपयोगी पशु 'ऊँट' को ही 'उष्ट्र' कहना प्रारम्भ कर दिया। यही बात पेड़ों और नदियों आदि पर भी घटित होती है। ध्वनि-परिवर्तन पर भी भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। शीत प्रदेशों के लोग जिन शब्दों के उच्चारण में मुँह कम खोलते हैं और श्वास को बाहर कम निकालते हैं, उन्हीं शब्दों के उच्चारण में उष्ण प्रदेशों के लोग मुख अधिक खोलते हैं और श्वास अधिक निकालते हैं। इससे ध्वनियाँ संवृत या विवृत हो जाती हैं; उदाहरणार्थ, एक ही 'अ' (या a) ध्वनि शीत और उष्ण प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उच्चरित होती है।

दूसरी ओर प्राचीन भूगोल या ऐतिहासिक भूगोल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भाषाविज्ञान भूगोल की बड़ी सहायता करता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्राचीन नदियों, पर्वतों आदि के नामों का ज्ञान और उनके तुलनात्मक अध्ययन से भूगोल के अध्ययन को एक नई दिशा प्राप्त होती है। इस प्रकार भूगोल को भी शोध-कार्य में भाषाविज्ञान से सहायता मिलती है। इससे स्पष्ट है कि ये दोनों शास्त्र भी परस्पर सहायक हैं।

सारांश यह कि भाषाविज्ञान ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं से न्यूनाधिक रूप से सम्बद्ध है।

भाषाविज्ञान का इतिहास

प्रो० विष्णुदत्त शर्मा

भाषा का अध्ययन-विश्लेषण तो अनेक देशों में अति प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो चुका था किन्तु भाषाविज्ञान अर्वाचीन विषय है। भाषा का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करके सम्यक् रूप से भाषा के आभ्यन्तर एवं बाह्य रूप तथा विकास का दिग्दर्शन कराना ही भाषाविज्ञान का मुख्य प्रयोजन है। आधुनिक विद्वान् भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति, विकास, तथा ह्रास आदि का वैज्ञानिक विवेचन एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों का निर्धारण मानते है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं—"सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे" अथवा "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते" अर्थात् लोक में जिन शब्दों का प्रयोग होता है उनकी सिद्धि व्याकरण द्वारा निष्पन्न होती है, किन्तु व्याकरण की सीमा भाषा के सिद्ध शब्दों तक ही सीमित है जबकि भाषाविज्ञान का क्षेत्र असीम है।

भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा मानव के मन में अनन्त काल से रही है। भाषा के विषय में विवेचन सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही हुआ। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से अक्षुण्ण चली आ रही है। भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के बीज हमें ऋग्वेद में उपलब्ध हो जाते है, यथा, "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" इत्यादि भाषाविषयक विधान ऋषियों ने प्रस्तुत किया तथा "उतत्व पश्यन्न ददर्श वाच" इत्यादि वाक्यों की भी अवतारणा की। अखिल भाषाओं के मूलभूत अच् आदि स्वरों का एवं कवर्गादि व्यञ्जनों का आदिम नाद विश्व गगनमण्डल में प्रतिध्वनित होता हुआ जो फैला उसके मूल के दर्शन हमें इस ऋग्वेदीय श्रुति में होते हैं—"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"। सर्वप्रथम प्रधान स्वरों तथा प्रमुख व्यञ्जनों का उपदेश इसी श्रुति में हुआ है: 'अग्नि' में 'अ' 'इ', 'ईळे' में दीर्घ ई और ए, 'पुरोहित' में उकार और ओकार, तथा 'ऋत्विज' में 'ऋकार का उपदेश हुआ है। साथ ही इसमें वर्गों (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, तथा पवर्ग) के तृतीय अक्षरों ग्, ज्, ड्, (ळ्), द्, ब् का भी उपदेश हुआ है। वर्ग के तृतीय अक्षरों की कोमलता तथा मधुरता सभी संगीताचार्यों ने

स्वीकार की है। स्वरों की तथा वर्णों की शुद्धता एवं समीचीनता की ओर वैदिक ऋषियों का विशेष ध्यान था ; देखिये—"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति। यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् इति। यहाँ स्वरभेद के कारण एक ही शब्द के दो भिन्न अर्थ हो जाते हैं, अर्थात् "इन्द्र शत्रुर्यस्य, इन्द्र एव वा शत्रुरिति" (इन्द्र है शत्रु जिसका, अथवा इन्द्र ही शत्रु है)।

अर्थसम्बन्धी यह सन्देह शुद्ध स्वर द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप प्राचीन रूप से कुछ भिन्न है। आज की भाँति प्राचीन भाषासम्बन्धी अध्ययन पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं था। उस समय भाषा का अध्ययन व्याकरण के रूप में ही होता था। फिर भी प्राचीन भारत में हुआ भाषासम्बन्धी कार्य संसार में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।[1] आधुनिक भाषाविज्ञान भी पाणिनि का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऋणी है।[2] अब हम भारतवर्ष में हुए भाषा-सम्बन्धी कार्य को प्राचीन तथा आधुनिक दो वर्गों में रखकर अध्ययन करेंगे।

भारतवर्ष में भाषावैज्ञानिक कार्य

प्राचीन भारत में

वेद—वेद भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वैदिक ऋषियों ने सम्पूर्ण व्याकरण को एक रूपक में बड़े सुन्दर ढंग से बाँधा है, जिसे पढ़कर आज भी विस्मय होता है :

> चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा,
> द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
> महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

इस शब्द (ब्रह्म) के चार सींग हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात); तीन चरण है (भूत, वर्तमान, भविष्य); दो सिर हैं (सुबन्त और तिङन्त); सात हाथ हैं (कारक); तीन जगहों से बँधा हुआ है; (हृदय, बुद्धि, और कण्ठ)। सारी कामनाओं की वर्षा करनेवाला यह शब्द (ब्रह्म) आवाज कर रहा है। वह हम सभी मनुष्यों में प्रविष्ट हो गया है।

---

1. "This Grammar (पाणिनीय अष्टाध्यायी) which dates from somewhere round 350 to 250 B. C. is one of the greatest monuments of human intelligence..... No other language to this day has been so perfectly described".(Bloomfield's 'Language'.)

2. Western scholars were for the first time exposed to the
influenced
ace descrip-

जॉन बी० कैरोल (हार्वर्ड विश्वविद्यालय)
[illegible] विज्ञान'—भोलानाथ तिवारी, पृ० ४५३ पर उद्धृत)

भौतिक विज्ञान ने जिस बात की आज खोज की है उसका रूप ऋग्वेद में पाकर अत्यन्त आश्चर्य होता है : "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्..." (ऋग्वेद) अर्थात् विविध प्रकार के शब्द आकाश में वीचि-आवर्त्त रूप से ओत-प्रोत हैं। शब्दों की आकाश मे (तरग रूप मे) स्थिति की खोज असाधारण महत्त्व रखती है।

वेदो को श्रुति के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रार्थना तथा यज्ञादि के अवसर पर वेदमन्त्रो का उच्चारण किया जाता था। अतः मन्त्रो के उच्चारण, स्वर, तथा ध्वनियो आदि की ओर ऋषियो का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। सर्वप्रथम वेदमन्त्रो को एकत्रित किया गया। इन्हे सहिता की सज्ञा दी गई। सहितापाठ ही मत्रो का मूल पाठ है। बाद मे सहितापाठ के पदच्छेद के रूप मे पदपाठ को रटने तथा अर्थ समझने की सरलता की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया। पदपाठ को प्रारम्भ करने का श्रेय महर्षि शाकल्य को है। पदपाठ के बाद सुविधा की दृष्टि से क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ आदि की परम्परा का आविर्भाव हुआ। वास्तव मे वेदो की रक्षा के लिए महर्षियो के द्वारा पाठप्रणाली का आविष्कार किया गया था। इनके अतिरिक्त मूल का अविकल पाठ निर्भुजपाठ कहलाता था तथा मूल के विकृत रूप से किए गए पाठ को प्रतृणपाठ कहते थे। इन विभिन्न पाठो के ८ नाम व्याडि मुनि ने अपने ग्रन्थ 'विकृतिवल्ली' मे गिनाए है :

> जटा माला शिखा लेखा ध्वजो दण्डो रथो घन ।
> अष्टौ विकृतय. प्रोक्ता. क्रमपूर्वा मनीषिभि ॥

वेदमन्त्रो मे लगे हुए चिह्न स्वराघात को सूचित करते हैं। इस प्रकार भाषा-सम्बन्धी चिन्तन के सर्वप्रथम दर्शन हमे ऋग्वेद मे हो जाते हैं। कृष्ण यजुर्वेद मे देवता इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हमारे कथन को खण्डो मे विभाजित कर दीजिये।[1] इससे सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषियो को वाक्य को खण्डो मे विभक्त करना आता था। उच्चारण को यथावत् बनाए रखने की दृष्टि से मात्राकाल, स्वराघात, ध्वनियों का वर्गीकरण, तथा उच्चारण-सम्बन्धी नियमों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रातिशाख्यों ने किया। वेदो की सभी शाखाओ पर प्रातिशाख्य लिखे गए। यास्क ने निरुक्त मे लिखा है—"पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।" पार्षदग्रन्थ अर्थात् प्रातिशाख्य पदपाठ के आधार पर ही चलते हैं। पदपाठ मे समास, सन्धि, स्वर, मात्रादि पर विशेष ध्यान दिया गया। वर्ण समाम्नाय; स्वर-व्यञ्जनो की गणना, स्वरो के उच्चारण की विधि; अच् (स्वर), हल् (व्यजन), विसर्ग, सन्धि, इत्यादि, प्रगृह्यादि सज्ञा, पदविभाग नियम और उनके अपवाद, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद, आख्यान-स्वर, पदपाठ के

---

1. वाग्वै प्राच्य व्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाच व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्यात् इति तस्मादैन्द्रवायव सह गृह्यते तामिन्द्रो मध्यतो वक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृतावागुद्यते।

(तै० संहिता ६-४-७)

उच्चारण के नियम आदि प्रातिशाख्यों के विवेच्य विषय हैं जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण शबरस्वामी ने अपने भाष्य में इस प्रकार किया है :

हेतुर्निर्वचनं निन्दा-प्रशंसा-संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण कल्पना ॥
उपमानं दर्शयते तु विषयो ब्राह्मणस्य तु ।
(शबरभाष्य, २-१-८)

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्दों की व्युत्पत्तिसम्बन्धी व्याख्या वैज्ञानिक रूप से की गई है किन्तु यह व्याख्या अनुमान पर आधारित होने के कारण समीचीन नहीं मानी जा सकती। फिर भी शब्द-विच्छेद और धात्वर्थ तक पहुँचने का यह प्रथम प्रयास सराहनीय है।

आरण्यक ग्रन्थों में ब्राह्मणों की अपेक्षा भाषा के सम्बन्ध में अधिक सूक्ष्म विवेचन मिलता है। इनमें स्वर, स्पर्श, तथा ऊष्म वर्णों की चर्चा हुई है, "वाग्वै सर्वान् कामान् दुघे"। ऐतरेय आरण्यक में वाणी का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। क्रम की दृष्टि से वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, पदपाठ, तथा प्रातिशाख्य भाषा के अध्ययन की दृष्टि से स्वीकार किये गए हैं।

उपनिषदों में विद्या तथा अविद्या का विशद विवेचन मिलता है। "तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस......परा च सा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्डकोपनिषद्)। यहाँ ज्ञान को विशेष महत्त्व दिया गया है। लिखा भी है—"विद्ययाऽमृतमश्नुते"। भाषा, व्युत्पत्ति, तथा व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षा-ग्रन्थों में ध्वनि का सैद्धान्तिक विवेचन मिलता है। शिक्षा-ग्रन्थों में ध्वनि के स्वरूप, वर्गीकरण, सुर, अक्षर आदि पर विशेष विचार किया गया है। स्वर-व्यंजन की संख्या, मात्रादि का विवरण भी इसमें प्रस्तुत किया गया है तथा उच्चारणादि की प्रक्रिया पर भी ध्यान दिया गया है। शिक्षा के प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद् में बताये गए हैं—"तत्र वर्णो अकारादिः, स्वरा उदात्तादिः, मात्रा ह्रस्वादिः, बलं स्थानप्रयत्नौ, सामनिषादादिः, सन्तानो विकर्षणादिः एवामवबोधनमेव शिक्षायाः प्रयोजनम्।" अर्थात् वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान आदि का ज्ञान कराना ही शिक्षा के प्रयोजन हैं।

निघण्टु—वैदिक भाषा के ह्रासकाल में वैदिक शब्दों को जानने के लिए निघण्टु ग्रन्थों का जन्म हुआ। शब्दार्थ-सम्बन्धी क्लिष्टता को ध्यान में रखकर वैदिक भाषा के कठिन शब्दों का संग्रह किया गया। इन ग्रन्थों को निघण्टु कहा गया। इन्हें वैदिक कोष भी कहते हैं।

निरुक्त—शब्दसंग्रह या शब्दकोष मात्र से तुष्टि न होने पर निरुक्तों का जन्म हुआ। शब्द के अर्थ तथा शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर निरुक्तकारों ने दिया। यद्यपि निघण्टु और निरुक्त अपनी पूर्ण अवस्था

१. निघण्टु के शब्दों का विस्तृत व्याख्या । अर्थ का स्पष्टीकरण । प्रमाणों द्वारा अर्थ पर प्रकाश डालने का प्रयास ।

२. ऐतिहासिक परिस्थिति पर प्रकाश डालकर समाज एवं संस्कृति का दिग्दर्शन। विभिन्न व्याकरणों के उदाहरण प्रस्तुत कर अर्थविवेचन का प्रयास ।

३. भाषा की उत्पत्ति, गठन तथा विकास के पर्यालोचन का सविस्तर प्रयास सर्वप्रथम यास्क ने ही किया है ।

४. वर्णमात्र के अतिरिक्त अव्यय-संकेतों को भी भाषा स्वीकार किया गया किन्तु अव्यावहारिक तथा अस्पष्ट होने के कारण उसके अध्ययन की उपयोगिता पर बल नहीं दिया गया।

५. अनेक शब्दों के नामों को लेकर बड़ी वैज्ञानिक शंकायें की गई हैं तथा उनका सुन्दर और समुचित उत्तर भी दिया गया है, अर्थात् अमुक वस्तु को अमुक सज्ञा क्यों और कैसे दी गई, उसका अन्य नाम क्यों नहीं रखा गया आदि प्रश्नों का सुन्दर उत्तर निरुक्तकार ने दिया है ।

६. वैदिक शब्द में तथा लौकिक में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द बताया गया है; यथा वाराह='वर उदक आहार यस्य स वाराह' अथवा 'वर मूलं वहति उद्वहति वाराह'। वाराह इन्द्र को भी कहते हैं ।

७. इनमें विभाषाओं की उत्पत्ति की ओर भी सकेत किया गया है ।

८. इनके अनुसार शब्द का अर्थ स्थिर तथा सिद्ध होता है ।

९. धातु-सिद्धान्त को सफलतापूर्वक प्रतिपादित करने की कुञ्जी पाणिनि को यास्क से ही मिली थी ।

१०. भाषा के अग-प्रत्यगों की रचना का विवेचन किया गया है ।

११. नाम, आख्यात, उपसर्ग, तथा निपात किसे कहते हैं इसकी विस्तृत व्याख्या निरुक्तकार ने की है । प्रातिशाख्यों मे इनका उल्लेखमात्र ही मिलता है । 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति पदजातानि' की व्याख्या भाषाविज्ञान का पथ प्रशस्त करती है ।

१२. सज्ञा, क्रिया, कृदन्त, तथा तद्धित प्रत्यय का विवेचन किया गया है ।

पाणिनि विश्व के सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण माने जाते हैं। भाषा को परिमार्जित तथा परिष्कृत करने का श्रेय अधिकांशतः वैयाकरण पाणिनि को ही है। यद्यपि पाणिनि का समय विवादास्पद है किन्तु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत ५वीं शती ई० पू० का मध्य भाग अधिक सत्य जान पड़ता है। पाणिनि की महान् कृतियों में 'अष्टाध्यायी' का स्थान सर्वोपरि है। इन्होंने सारी पुस्तक को १४ सूत्रों पर आधारित किया है। इसमें आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में ४ पाद हैं, तथा प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। इन्होंने सभी शब्दों को प्रायः एकाक्षर धातुओं पर आधारित माना है जिनमें उपसर्ग तथा प्रत्यय लगाकर संज्ञा शब्द तथा क्रियायें बनाने का विधान है। उपसर्ग तथा प्रत्यय बदलने से अर्थ भी बदल जाते हैं। पाणिनि ने शब्द (पद) को सुबन्त (संज्ञावाचक) तथा तिङन्त (क्रिया-वाचक) इन दो प्रमुख वर्गों में बाँटा है। कुछ शब्दों को अव्यय की कोटि में रखा है। ध्वनियों का स्थान और प्रयत्न (आभ्यन्तर तथा बाह्य) के अनुसार वर्गीकरण ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से विशेष स्मरणीय है।

लौकिक और वैदिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन भी पाणिनि की विशेषता है। उन्होंने वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से अर्थ, ध्वनि, तथा तुलनात्मक व्याकरण-विषयक सामग्री भाषाविज्ञानियों को प्रदान की है।

धातु-सूत्र-गणोणादि-वाक्य-लिंगानुशासनम्।
आगम-प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् धातु, सूत्र, गण, उणादि, लिंगानुशासन का निरूपण, आगम, प्रत्यय, और आदेश—

इन सबको उपदेश कहते हैं । यही पूर्वोक्त मान्य व्याकरणाचार्यों (पाणिनि, कात्यायन, तथा पतञ्जलि) का प्राय उच्चारण है । इनकी कल्पना सर्वप्रथम इन्होने की है ।

संस्कृत तथा संस्कृतेतर भाषाविदो के लिए पाणिनि की देन अमूल्य है ।

कात्यायन का नाम भी संस्कृत व्याकरण मे विशेष उल्लेखनीय है । इनका जन्म पाणिनि के पश्चात् दो-तीन सौ वर्ष बाद माना जाता है । समय के परिवर्तन के साथ-साथ भाषा भी परिवर्तित होती जाती है । अत भाषा के विकास को ध्यान मे रखकर वार्तिककार कात्यायन ने पाणिनि के व्याकरण मे यत्र-तत्र परिवर्तन-हेतु वार्तिको की रचना की है । इन्होने पाणिनि के पारिभाषिक शब्दो मे भी कुछ परिवर्तन किया है । वार्तिक का लक्षण

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा विचक्षणाः ॥

महाभाष्यकार पतञ्जलि संस्कृत व्याकरण मे प्रमाण रूप माने जाते हैं । इनका जन्म १५० ई० पू० माना जाता है । एक शब्दः सम्यक् ज्ञात सुष्ठु प्रयुक्त. स्वर्गेलोके च कामधुग् भवति—भाष्यकार का यह वाक्य भाषाविषयक उनकी विशेष अभिरुचि का परिचायक है । महाभाष्यकार ने स्वर तथा व्यञ्जन की रमणीय परिभाषा दी है स्वय राजन्ते इति स्वरा. । अन्वग् भवन्ति व्यञ्जना । यह परिभाषा 'शब्दविज्ञान' के लिए महत्त्व रखती है । संस्कृत व्याकरण को सुव्यवस्थित रूप देने के कारण पाणिनि, कात्यायन, तथा पतञ्जलि को मुनित्रय कहा गया है । पतञ्जलि ने महाभाष्य आठ अध्यायो मे लिखा है । प्रत्येक मे ४ पाद हैं और प्रत्येक पाद मे कई आह्निक है । पतञ्जलि ने ध्वनि और अर्थ के सम्बन्ध, वाक्य के विभिन्न भाग, शब्द तथा ध्वनि की परिभाषा आदि पर वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया है तथा कात्यायन द्वारा की गई पाणिनि की अनुचित आलोचना का सप्रमाण खण्डन किया है । साथ ही पाणिनि की भूल पर प्रकाश डालते हुए यत्र-तत्र वैज्ञानिक विचारो द्वारा अपने मत की स्थापना भी की है । इनके नियमों को 'इष्टि' के नाम से पुकारा जाता है । मौलिकता की दृष्टि से पतञ्जलि का सर्वोपरि है । पद और वाक्य का सुन्दर लक्षण वैयाक ता है ·

पदम् ।

ाय. ।

ऱ्य, वामन,
भी व्याकरण
ऱ्य और वामन
'वाक्यपदीय' तथा
शेत्र मे विख्यात हैं ।
मे उल्लेखनीय हैं ।

कौमुदीकाल—टीका [illegible] के पश्चात् कौमुदीकारों का समय आता है। कौमुदीकारों में प्रथम प्रयास विमल सरस्वती (१४वीं शती) ने किया है। इनकी रचना 'रूपमाला' है। १५वीं शती में रामचन्द्र ने 'प्रक्रियाकौमुदी' लिखी। व्याख्याओं को सुबोध बनाने के लिए कौमुदीकारों ने नया क्रम चलाया। व्याकरण की क्लिष्टता को संक्षिप्त करने तथा दुरूहता को दूर करने की दृष्टि से उनका प्रयास स्तुत्य है। विषय को सरल तथा सूक्ष्म विवेचनपूर्वक समझाया गया है। पाणिनि के बाद 'भट्टोजी दीक्षित' की सिद्धान्त-कौमुदी का पठन-पाठन अधिक मात्रा में प्रचलित हुआ। भट्टोजी दीक्षित के बाद लोग अष्टाध्यायी को मूल रूप में पढ़ना भूल गये तथा काशिका की परम्परा भी प्रायः समाप्त हो गई। श्री दीक्षित का समय १७वीं शती माना जाता है। आपने स्वयं अपने ग्रन्थ पर 'प्रौढ़ मनोरमा' नाम की टीका भी लिखी है। इन्होंने रामचन्द्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' तथा हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' से सहायता ली है।

१८वीं शती में 'मध्य सिद्धान्तकौमुदी' तथा 'लघु सिद्धान्तकौमुदी' नामक दो ग्रन्थों का निर्माण हुआ। वरदराजकृत 'लघु सिद्धान्तकौमुदी' का व्याकरण के क्षेत्र में बहुत प्रचार हुआ। इनके अतिरिक्त 'परिभाषेन्दुशेखर' तथा 'व्याकरणभूषण' नामक ग्रन्थ भी बहुत प्रसिद्ध हुए।

व्याकरण की पाणिनीतर शाखायें—व्याकरण की पाणिनीतर शाखाओं में अनुभूतिस्वरूपाचार्य, जैनेन्द्र, शाकटायन, हेमचन्द्र, कातन्त्र, सारस्वत, बोपदेव, जोमट, सौपध, हरिनामामृत आदि शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। पाणिनि से भिन्न कुछ अन्य प्रसिद्ध व्याकरण तथा उनके ग्रन्थ इस प्रकार हैं : अनुभूतिस्वरूपाचार्य का 'सरस्वती-प्रक्रिया' व्याकरण का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आचार्य चन्द्रगोमिन बौद्ध थे। इनके व्याकरण का प्रचार भारत में न हो कर तिब्बत और लंका में अधिक हुआ। शाकटायन जैन आचार्य थे। 'शाकटायन-शब्दानुशासन' और 'कामधेनु' इनकी दो रचनाएँ हैं। हेमचन्द्र भी जैन मुनि थे। इनका 'शब्दानुशासन' बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बोपदेव ने 'मुग्धबोध' व्याकरण लिखा है। यह बंगाल में विशेष लोक-प्रिय हुआ।

'कातन्त्र व्याकरण' १०० ई० में शर्ववर्मा ने लिखा। यह 'व्याकरण-कलाप' नाम से भी प्रसिद्ध है। सारस्वत शाखा में सरल तथा संक्षिप्त रूप में व्याकरण समझाने का प्रयास किया गया है।

पाली व्याकरणों की रचना भारतवर्ष, ब्रह्मप्रदेश, और लंका तीनों ही स्थानों में की गई। इन व्याकरणों को तीन शाखाओं में विभक्त किया जा सकता है : कच्चायन, मोग्गल्लान, तथा अग्गवंस।

प्राकृत व्याकरण संस्कृत व्याकरणों पर ही आधारित है। इनकी रचना संस्कृत नाटकों के प्राकृत अंशों के लिए की गई थी। इनकी दो शाखाएँ हैं : प्राच्य और प्रतीच्य। इन भेदों की पुष्टि अशोक द्वारा लिखवाये गए पाली प्रस्तर-लेखों के पूर्ववर्ती बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों के पर्यालोचन से हो जाती है। इसके कुछ समय बाद

भाषा के चार भेद हो गये। पश्चिम दिशा में सिन्धुनीर से लेकर गंगा-यमुना के मध्य मथुरा-पांचाल प्रदेश में व्यवहृत भाषा शौरसेनी कहलाई। शौरसेनी के ही प्रभेद गौर्जरी, आवन्ती, और महाराष्ट्री हुए। इसी प्रकार पूर्व दिशा में मगधदेश-प्रसिद्ध मागधी तथा अर्द्धमागधी भाषा प्रादुर्भूत हुई। इस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्राकृत भाषा ही विविध रूपों को ग्रहण कर बोली जा रही है। संस्कृत से ही विकृत अथवा विकसित हुई सिन्धी, पंजाबी, कश्मीरी, गौर्जरी, बंगाली आदि भाषाएं उत्तर भारत में व्यवहृत हो रही है। दक्षिणापथ में व्यवहृत तेलगु, तमिल, मलयालम, कर्णाटक इत्यादि द्रविड भाषाओं का भी सुदूर काल से संस्कृत भाषा से ही निकट सम्बन्ध रहा है क्योंकि आज भी इनके कलेवर तथा हृदय संस्कृत से विभूषित हैं। इनकी शब्दावली *अधिकांशत संस्कृत के तत्सम अथवा तद्भव शब्दों से पूर्ण है। प्राकृतकाल में प्राकृत* के १६ भेद मिलते हैं, यथा : महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राची, आवन्ती, मागधी, शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका, ढाक्की, नागरी, व्राचडी, उपनागरी, कैकयी, पाञ्चाली, पैशाची।

कुछ विद्वानों का मत है कि शुद्ध संस्कृत के उच्चारण में अक्षम व्यक्तियों *की व्यावहारिक भाषा प्राकृत थी। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' नामक ग्रन्थ* में प्राकृत भाषा के भाषा, विभाषा, अपभ्रंश, तथा पैशाची चार संक्षिप्त भेद किए थे किन्तु इनमें प्रत्येक के चार-चार उपभेद होकर प्राकृत के १६ भेद बन गए।

उपरिलिखित वैयाकरणों के अतिरिक्त कुछ अन्य शास्त्रों ने भी भाषा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विवेचन किया है। इनमें न्यायशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र का मुख्य स्थान है।

नैयायिकों ने भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को तर्कपूर्ण शैली में समझाने का प्रयत्न किया है। अर्थविचार के क्षेत्र में नैयायिकों की देन महत्त्वपूर्ण है। पदार्थ-स्वरूप के निर्णय में 'काणाद शास्त्र' प्रसिद्ध है। इनमें जगदीश तर्कालंकार की 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका' टीका भी उल्लेखनीय है।

साहित्यिकों ने शब्द, शक्ति (*अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या, व्यंजना*), रीति, ध्वनि, तथा अर्थपक्ष का सुन्दर तथा तर्कपूर्ण विवेचन किया है। ध्वन्यालोक, काव्यादर्श, काव्यमीमांसा, साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक, रसगंगाधर, दशरूपक आदि ग्रन्थ इसके उदाहरण हैं। रूप, ध्वनि, अर्थ, शब्दशक्ति आदि का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन ग्रन्थों में वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। इनमें (१) रस सम्प्रदाय, (२) अलंकार सम्प्रदाय, (३) रीति सम्प्रदाय, (४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय, (५) ध्वनि सम्प्रदाय, तथा कवि-शिक्षा प्रसिद्ध हैं। साहित्यिकों में भरतमुनि आदि-मुनि माने जाते हैं। शब्द और अर्थ के परस्पर-सम्बन्ध पर हमारे सभी मुख्य कवियों की भी दृष्टि रही है, यथा 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यादि कालिदासः, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' भामहः, 'शब्दार्थौ सत्कविरिवद्वय विद्वानपेक्षते' माघ (२-२८)।

'बालक भाषा कैसे सीखता है' इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का "अभि-

हितान्वयवाद" तथा प्रभाकर का "अन्विताभिधानवाद" वैज्ञानिक तथ्यों को उपस्थित करते हैं तथा इस विषय में उनकी मौलिक देन है। आधुनिक भाषाविज्ञानियों ने इन वादों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।

अभिहितान्वयवाद—पहले पदों से केवल अनन्वित (असंयुक्त) पदों के अर्थ उपस्थित होते हैं। उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता, तथा सन्निधि के बल से 'तात्पर्याख्या शक्ति' द्वारा उन पदार्थों के परस्पर-सम्बन्ध द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है। कुमारिलभट्ट के मतानुसार बालक पहले पदार्थ पहचानता है, फिर वाक्यार्थ समझता है, जैसे कि स्कूल में बालकों को पहले पदज्ञान कराया जाता है, फिर पदों को वाक्य में जोड़कर अर्थ बतलाया जाता है।

अन्विताभिधानवाद—इसके अनुसार पदार्थों के अन्वित अर्थ का ही अभिधा से बोधन होता है। पदों से जो पदार्थों की प्रतीति होती है वह 'संकेतग्रह' के बाद ही होती है और संकेत का ग्रहण व्यवहार से होता है, अर्थात् बालक वाक्यार्थ का ही बोध पहले करता है, पदों का अर्थ बाद में व्यवहार से जान जाता है। जैसे बालक मातृभाषा को केवल परिवार के व्यवहार से ही सीख लेता है; अर्थात् वाक्यार्थ ही जानकर पदार्थ स्वतः जान लेता है। यथा, पिता बड़े लड़के से कहता है 'दवात लाओ'। दवात लाने पर कहता है 'कलम भी लाओ'। कलम लाने पर 'कागज लाओ' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करता है। इन शब्दों को यदि कोई बालक सुन रहा है तो वह इस क्रिया को देखकर जान लेता है कि दवात अमुक वस्तु है, कलम अमुक वस्तु है, कागज अमुक वस्तु है, तथा लाओ का अर्थ है किसी चीज को उठाकर लाना।

इस प्रकार इन ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

मीमांसकों द्वारा भी शब्दस्वरूप, शब्दार्थ, वाक्य, तथा वाक्यार्थ आदि पर सूक्ष्म विचार किया गया है।

इस प्रकार भाषाविज्ञान के इतिहास की दृष्टि से भारत का स्थान सर्वप्रथम आता है। आधुनिक भाषाविज्ञान भारत के वैयाकरणों तथा अन्य मनीषियों का चिरऋणी रहेगा यह निर्विवाद है।

आधुनिक भारत में

आधुनिक भारत में वैज्ञानिक पद्धति से भाषाविज्ञान पर जो कार्य हो रहा है वह यूरोप के संसर्ग का फल है। भारतवर्ष में अभी तक इस दिशा में जो कार्य हुआ है वह यूरोप की तुलना में अति साधारण है तथापि इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले प्रमुख विद्वानों का परिचय तथा उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना उपादेय होगा।

सर्वप्रथम काल्डवेल (सन् १८१४-१८९१ ई०) ने 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' १८५६ में प्रकाशित कराया तथा जीवन भर भाषाविज्ञान के लिए कार्य करते रहे। इस दृष्टि से इनका भाषाविज्ञान में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१८५५ ई० में सारन जिले में जान बीम्स कलक्टर नियुक्त हुए। इन्होंने 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके

क्रमशः १८७२, १८७५, तथा १८७९ में तीन भाग प्रकाशित हुए । प्रथम भाग भूमिका के रूप में है। इसमें ध्वनियों का सुन्दर विवेचन हुआ है। द्वितीय भाग में संज्ञा तथा सर्वनाम के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है । तृतीय भाग में क्रिया पर अध्ययन किया गया है। बीम्स ने व्याकरण के साथ-साथ भारतीय भाषाओं जैसे हिन्दी, सिन्धी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला, तथा उड़िया आदि का तुलनात्मक ढंग से ऐतिहासिक विवेचन भी प्रस्तुत किया है ।

डी० ट्रम्प ने १८७२ में 'सिन्धी व्याकरण' लिखा। इसमें इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, तथा भारतीय भाषाओं के भी तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। १८७३ में इनका 'पश्तो व्याकरण' प्रकाश में आया। ये अनेक भाषाओं के मर्मज्ञ थे ।

१८७६ ई० में एस० एच० केलाग का 'हिन्दी-भाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ। इन्होंने प्रधान रूप से खड़ी बोली के व्याकरण पर विचार किया है तथा ब्रज, अवधी, राजस्थानी, बिहारी आदि भाषाओं से भी सामग्री ग्रहण कर भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। व्याकरण के मुख्य रूपों का इतिहास देकर लेखक ने पुस्तक को और अधिक उपादेय बना दिया है ।

सन् १८७७ में डॉ० सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण किया। ये आधुनिक भारत में भाषा-विज्ञान के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इन्हें प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व का गहरा ज्ञान था। १८७७ में इन्होंने भाषा-विज्ञान पर बम्बई विश्वविद्यालय में सात व्याख्यान दिये जो १९१४ में 'विल्सन व्याख्यान-माला' के नाम से प्रकाशित हुए। इन्होंने भारतीय भाषा-विज्ञान के साथ-साथ नवीन यूरोपीय भाषा-विज्ञान का अध्ययन कर उसमें समन्वय स्थापित करते हुए अपनी भाषा-विज्ञान-विषयक सामग्री प्रस्तुत की है।

भण्डारकर द्वारा किया गया भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी प्रमुख कार्य इस प्रकार है.

(१) भाषा के विकास के आधार पर सामान्य नियमों का निर्धारण ।
(२) संस्कृत के विकास-क्रम पर विशेष ध्यान दिया ।
(३) साथ में पाली भाषा तथा समसामयिक प्रचलित बोलियों का भी विवेचन किया ।
(४) प्राकृत, अपभ्रंश, तथा उत्तर भारतीय आधुनिक भाषाओं की ध्वनि का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया।
(५) आधुनिक आर्यभाषाओं में प्राप्त प्राचीन तथा नवीन रूपों का विवेचन करने के साथ मध्य तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के सम्बन्ध पर भी विचार किया।
(६) इतिहास तथा पुरातत्त्व पर इनके निबन्ध वैज्ञानिक दृष्टि से लिखे गए हैं ।

डॉ० ए० रुडोल्फ हार्नली (सन् १८४१-१९१८ ई०) ने 'पूर्वी हिन्दी का तुलनात्मक व्याकरण' १८८० में प्रकाशित कराया। इसमें भोजपुरी तथा प्रमुख आधु-

निक आर्यभाषाओं का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन अनेक भारतीय तथा भारतीयेतर भाषाओं के विद्वान् थे। इनका काल १८५१-१९४१ ई० है। १८८३ से १८८७ ई० तक इनके 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' प्रकाशित हुए। ये बिहारी भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' नामक ग्रन्थ इनकी कीर्ति का मुख्य स्तम्भ है। यह विशाल ग्रन्थ ११ जिल्दों में है। इसमें भारतीय भाषाओं तथा बोलियों के उदाहरणों के साथ-साथ उनके व्याकरण का भी सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ की भूमिका में आर्य-भाषाओं का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इनके १९०६ में पिशाच भाषा तथा १९११ में कश्मीरी भाषा पर भी प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

राल्फ लिले टर्नर का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नेपाली कोश' १९३१ में प्रकाशित हुआ। इसमे नेपाली शब्दों की व्युत्पत्ति बताते हुए तुलना के रूप में प्रधान भारतीय आर्य-भाषाओं के शब्द तथा यत्र-तत्र यूरोपीय भाषाओ के भी शब्द दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसमे मूल भारोपीय भाषा के भी लगभग २०० शब्दों का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः यह विशाल ग्रन्थ २१२ भाषाओं के आधार पर लिखा गया है। टर्नर ने मराठी स्वराघात, गुजराती ध्वनिसमूह तथा सिन्धी पर भी कार्य किया है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार "टर्नर द्वारा संपादित भारतीय कोश आर्यभाषाओं का प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोश है।" आजकल ये भारतीय आर्य भाषाओं का 'तुलनात्मक व्युत्पत्ति-कोश' रचने में संलग्न हैं।

जूल ब्लॉक ने सन् १९१९ में 'मराठी की संरचना' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें ध्वनि तथा रूप का सुन्दर विवेचन किया गया है। इनका 'भारतीय आर्यभाषाएँ' नामक ग्रंथ भी विशेष ख्यातिप्राप्त है। इनका 'द्रविड भाषाओं का व्याकरणिक गठन' नामक ग्रंथ भी विख्यात है। भारतीय भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास तथा उनकी आकृति की रोचक अध्ययन लेखक की प्रसिद्धि का प्रमुख कारण है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त और भी बहुत-से विद्वानों का भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कुछ तो आज भी शोध-कार्य में रत हैं।

मूल भारोपीय भाषा के क्षेत्र में डॉ० आर्येन्द्र शर्मा, श्री टर्नर, तथा डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

संस्कृत में डॉ० लक्ष्मणस्वरूप ने यास्क के निरुक्त पर शोध-कार्य किया है। वेदों पर शोधकार्य की दृष्टि से सर्वश्री विश्वबन्धु तथा आर० एन० दाण्डेकर प्रसिद्ध हैं। सिद्धेश्वर वर्मा ने यास्क के निरुक्त और दरद भाषाओं पर कार्य किया है। ई० डी० कुलकर्णी ने महाभारत की क्रियाओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। डॉ० सुकुमार सेन ने कुलकर्णी के ही सदृश कार्य किया है। डॉ० कपिलदेव द्विवेदी ने 'अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन' नामक ग्रंथ लिखा है। डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने 'ए ग्रैमेटिकल डिक्शनरी ऑव् संस्कृत' लिखी है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री का 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र', डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल का 'मुग्धबोध भाषाविज्ञान', डॉ०

[illegible] का 'हिन्दी में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों में अर्थपरिवर्तन' तथा डॉ० देवेन्द्र-नाथ शर्मा का 'भाषाविज्ञान की भूमिका' नामक ग्रन्थ संस्कृत के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण भाषावैज्ञानिक ग्रन्थ है।

पालि, प्राकृत, तथा अपभ्रंश के क्षेत्र में क्रमशः भिक्षु जगदीश काश्यप, मनमोहन घोष, हीरालाल जैन, और प्रबोधचन्द्र बागची के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त [illegible], विधुशेखर भट्टाचार्य (पाली), शहीदुल्ला (पाली तथा अपभ्रंश), बनारसीदास जैन (पंजाबी) आदि ने भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

अशोक्स पर कार्य करनेवालों में डॉ० नागपुरवाला, पूनावाला, काणा, कापड़िया, तथा सुकुमार सेन के नाम उल्लेखनीय हैं।

बंगला पर डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने उल्लेखनीय कार्य किया है। श्री चटर्जी का प्रधान ग्रंथ 'बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास' है। सेन ने 'बंगाली वाक्यविचार' ग्रन्थ लिखा है तथा हेमन्तकुमार ने 'सर्वविचार' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। श्री गोस्वामी ने चटगाँव जिले की बोली का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टागुर, प्रफुल्ल भट्टाचार्य, तथा गोपाल हालदार के कार्य भी महत्त्वपूर्ण है।

उड़िया में गोपालचन्द्र का 'उड़िया कोश' प्रसिद्ध है। विनायक मिश्र का 'ओड़िया भाषार इतिहास', गोपीनाथचन्द्र शर्मा का 'ओड़िया भाषातत्त्व', गिरिजाशंकर का 'गल्प भाषातत्त्व', तथा जी०एम० राव का 'उड़िया व्याकरण' प्रसिद्ध हैं।

असमी पर वानीकान्त काकती का 'असमी का स्वरूप और विकास' तथा बरुआ और ब्राउन के 'असमी कोश' भी प्रसिद्ध हैं।

मराठी में डॉ० सुमित्र मंगेश कत्रे, पंजाबी में बनारसीदास जैन, सिद्धेश्वर वर्मा, टी० ग्रैहम बेली, परमानन्द बहल, तथा हरदेव बाहरी के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुजराती के सम्बन्ध में टर्नर का 'गुजराती का ध्वनिविज्ञान' नामक ग्रन्थ उल्लेख्य है। सर्वश्री ग्रियर्सन, नरसिंहराव, भोलानाथ, लीस डाम के ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त सर्वश्री केशवराय, काशीराम, डॉ० मोतीलाल, डॉ० साडेसरा, डा० हरिवल्लभ भायाणी, तथा कान्तिलाल व्यास के नाम भी उल्लेखनीय है।

द्रविड भाषाओं के क्षेत्र में काल्डवेल विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त रामकृष्ण, अमृतराव, तथा नीलकण्ठ शास्त्री (तमिल), चन्द्रशेखर और रामस्वामी ऐयर (मलयालम), डेनिस डे० एस० ब्रे० (ब्राहुई) आदि के कार्य स्तुत्य हैं।

सिंहली में गायगर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सिन्धी में ई० ट्रम्प ने विशेष कार्य किया।

हिन्दी पर अनेक देशी और विदेशी विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इनमें से कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार है

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रज), डॉ० बाबूराम सक्सेना (अवधी), डॉ० उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी), सुभद्र झा (मैथिली), मोहिउद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी की ध्वनियाँ),

डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी (१८९०-१९७७), इनके बंगाली (हिन्दी रूपान्तर) के रूप [illegible] भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों के कार्य भी उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों में उल्लेख्य हैं सर्वश्री: बीम्स, केलॉग, ग्रियर्सन, श्यामसुन्दर दास, [illegible] तथा [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा, किशोरी दास वाजपेयी, कैलाशचन्द्र भाटिया, [illegible] बाबूराम [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], भोलानाथ तिवारी आदि।

आधुनिक भारत में भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य का यह संक्षिप्त इतिहास है। आज भी इस क्षेत्र में अनेक प्रतिभाशाली विद्वान् शोध-कार्य में संलग्न हैं जिनका उल्लेख भविष्य में किया जाएगा।

भारत के अतिरिक्त एशिया के जिन चार देशों में भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी कार्य हुआ है उनमें प्रमुख हैं : अरब, चीन, और जापान। एशिया में हो रहे भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य में जापान आज सबसे आगे है।

यूरोप में भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य

भाषाविज्ञान का आधुनिक रूप यूरोपियों द्वारा निर्मित हुआ किंतु उसकी नींव संस्कृत के परिचय के बाद पड़ी। यद्यपि यूरोपनिवासी भी भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही प्रविष्ट हो चुके थे किन्तु उनका प्राचीन अध्ययन वैज्ञानिक न था। जिस प्रकार आधुनिक युग में भारत में भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य यूरोपीय विद्वानों के संसर्ग का परिणाम है ठीक उसी प्रकार यूरोप में भाषाविज्ञान के अध्ययन का सूत्रपात भारतीय विद्वानों के संसर्ग से हुआ। भारत के भाषा-साहित्य तथा उसके इतिहास से अनभिज्ञ लोग यह मान लेते हैं कि भाषाविज्ञान पाश्चात्य विद्वानों की देन है किन्तु भारतीय भाषा-साहित्य तथा उसके इतिहास के मर्मज्ञ यह स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि भारत में सुदूर वैदिक काल में रोम तथा यूनान की अपेक्षा भाषा-विषयक चिन्तन तथा शोधकार्य कहीं अधिक उन्नत अवस्था में था। उसी का अध्ययन कर पाश्चात्य विद्वानों ने भाषा-विज्ञान को आधुनिक रूप प्रदान किया। सुविधा की दृष्टि से यूरोपनिवासियों के भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य को दो भागों में विभाजित करना उचित होगा प्राचीन तथा अर्वाचीन।

प्राचीन

यूरोप में भाषा के प्रश्न पर सर्वप्रथम दार्शनिक सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) ने विचार किया। उन्होंने शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध पर चिन्तन किया। क्या शब्द और अर्थ का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है अथवा नहीं? इस विषय में उनका उत्तर है कि यह सम्बन्ध माना हुआ है, स्वाभाविक नहीं। यही कारण है कि प्रत्येक भाषा में पृथक्-पृथक् नामों से एक ही वस्तु अभिहित होती है। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध होता तो किसी भी वस्तुविशेष के लिए सभी भाषाओं में एक ही शब्द का व्यवहार मिलता। सत्य यह कि यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता तो विश्व में सर्वत्र एक ही भाषा प्रचलित होती। आज भी यदि

शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध स्थापित हो सके तो यह कार्य सम्भव है।

सुकरात के पश्चात् उनके शिष्य प्लेटो (४२६ ई० पू० से ३४७ ई० पू०) का नाम लिया जाता है। यद्यपि उन्होंने भाषासम्बन्धी क्षेत्र को अपना मूल विषय नहीं चुना किन्तु फिर भी 'सोफिस्ट', 'क्रेटिलस' आदि पुस्तकों में भाषासम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों पर उनके विचार मिल जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि "यूरोप में ग्रीक ध्वनियों को घोष तथा अघोष वर्गों में बाँटने का कार्य कर ध्वनियों का वर्गीकरण करने का प्रथम श्रेय प्लेटो को है।" यह कथन निराधार है क्योंकि ध्वनियों का घोष तथा अघोष वर्गों में विभाजन सर्वप्रथम भारतीय वैयाकरणों तथा ध्वनिविदों ने ही किया है। यथा

खरो—विवारा श्वासा अघोषाश्च। हशः—संवारा नादा घोषाश्च।
वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणा। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ
शलश्च महाप्राणाः। अचस्त्रिधा—उदात्तोऽनुदात्तो स्वरितश्चेति।

इस विषय में श्रीयुत् जे० आर० फर्थ लिखते हैं, 'यदि सर विलियम जोन्स हमें भारतीय वैयाकरणों और ध्वनिविदों का परिचय न कराते तो हम १९वीं शताब्दी में हुए अपने ध्वनि-विज्ञान-सम्बन्धी विकास की कल्पना तक नहीं कर सकते थे'।[1] लेप्सिउस (Lepsius) ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'यूरोपीय भाषा-विज्ञानियों ने ध्वनियों का सघोष और अघोष भेद संस्कृत वैयाकरणों से ही सीखा है'।[2]

अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि 'भारतीय शिक्षा के प्रभाव से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही पहली बार यूरोपीय विद्वानों को ध्वनियों के सघोष-अघोष भेद का पता चला'।[3]

प्लेटो के अनुसार विचार और भाषा मूलतः अभिन्न हैं। विचार आत्मा की अध्वन्यात्मक वार्ता है तो भाषा विचारों का ध्वन्यात्मक रूप है। इस प्रकार विचार और भाषा का भेद केवल बाह्य रूप से ग्राह्य है। उनका वाक्य-विश्लेषण, शब्द-भेद, तथा ध्वनियों का वर्गीकरण भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उद्देश्य, विधेय, तथा वाच्य के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं।

अरस्तू (३८४ ई० पू० से ३२२ ई० पू०) ने प्लेटो के कार्य को आगे बढ़ाया। इनका 'पोयटिक्स' नामक ग्रन्थ यूरोप में विशेष प्रसिद्ध है। इनके मतानुसार वर्ण अविभाज्य ध्वनि है। भारतवर्ष में भाषाविज्ञान विषयक सामग्री जिस प्रकार

1. "Without the Indian grammarians and phoneticians whom he (i. e. Sir Willian Jones) introduced and recommended to us, it is difficult to imagine our nineteenth century school of phonetics."

2. "In their recognition of the voicing process the Indian phoneticians make one of their greatest single contributions." ('Phonetics in Ancient India' by W. S. Allen, 1953, pp 33)

3 "Only in the latter part of the nineteenth century, under the influence of Indian teaching, does the recognition of voicing process make headway." (Allen, p 37)

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों—जैसे काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि—में मिलते
है, उसी प्रकार आनुषंगिक रूप में इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पोयटिक्स' में भाषा-विज्ञान-
सम्बन्धी मूल्यवान् तथ्य उपलब्ध होते हैं। अरस्तू के अनुसार 'स्वर वह ध्वनि है
जिसके उच्चारण में जिह्वा तथा ओष्ठ आदि अवयवों का स्पर्श नहीं होता'। यह परि
भाषा आज तक भाषाविदों को मान्य है। इन्होंने ध्वनि के तीन भेद माने हैं: स्वर,
अन्तःस्थ, और स्पर्श। इनका उल्लेख प्राचीन भारतीय व्याकरण में मिलता है।

अच: स्वरा:। कादयो मावसाना: स्पर्शा:। यणोऽन्तस्था:। शल ऊष्माण।
अं अः इत्यच. परावनुस्वारविसर्गौ। इनके अतिरिक्त जिह्वामूलीय, उपध्मानीय
आदि का भी उल्लेख है।

अरस्तू ने मात्रा तथा सम्बन्धसूचक शब्दों पर भी विचार किया है। इनके
अनुसार शब्द दो प्रकार के होते है: साधारण तथा दोहरे। साधारण शब्द अर्थरहित
होते हैं, उनमें केवल ध्वनिमात्र रहती है। दोहरे शब्द वे हैं जिनमें सार्थकता (अर्थ)
तथा निरर्थकता (केवल ध्वनि) दोनों तत्त्व विद्यमान हों। इनके अतिरिक्त इन्होंने
तिहरे तथा चौहरे शब्द भी माने हैं। लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ[1] की ओर भी अरस्तू का
ध्यान गया है। इसी प्रसंग में इन्होंने शब्दों के कई भेद किए हैं; जैसे—शुद्ध, विदेशी
परिवर्तित, मनगढन्त आदि। शब्दों के आठ भेद (Eight parts of speech)
तथा लिंगविचार का श्रेय अरस्तू को ही है। इन्होंने पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग
पर विचार करते हुए उनके लक्षणों का भी निर्देश किया है। भारत में ऋग्वेद
में ही पुल्लिंग, स्त्रीलिंग आदि का विवेचन प्राप्त हो जाता है।

अरस्तू के कार्य को ग्रीक वैयाकरणों ने और भी विकसित किया। उन्होंने
व्यञ्जनों के तनु (Tenues), मध्य (Media) और महाप्राण (Aspirate) ये तीन
भेद किये।

स्टोइक वर्ग के पण्डितों (Stoics) ने शब्द पर और अधिक प्रकाश डाला।
स्टोइकों के पश्चात् ग्रीक विद्वानों का अलक्षेन्द्र सम्प्रदाय चला जिसके विद्वानों ने
प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने शब्द के दो
प्रकार बताये—नियमित (Analogous) और अनियमित (Anomalous)। ग्रीक की
दुरूहता को दूर करने के लिए अर्थ की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। फलत
उनका शोधकार्य 'अर्थविज्ञान' की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

डायोनोसियस थ्रेक्स (द्वितीय शती ई० पू०) ग्रीक भाषा के प्रथम वैयाकरण
माने जाते हैं। इन्होंने पुरुष, काल, लिंग, और वचन पर पर्याप्त प्रकाश डाला तथा
कर्ता और क्रिया पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया। स्वर और व्यंजन की परि-
भाषा देते हुए इन्होंने ही सबसे पहले यूरोप में कहा कि 'स्वर स्वयं उच्चरित होते हैं

---

१. लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का जैसा सूक्ष्म विवेचन भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्रों
में हुआ है वैसा विश्व के किसी भी काव्यशास्त्र में नहीं हुआ।

तथा व्यञ्जन स्वर की सहायता से उच्चरित होते हैं'। इनके बाद इनकी शिष्य-परम्परा चलती रही जिसके अन्तर्गत अपोलोनियस और डिसकोलस ने वाक्य-विज्ञान पर कार्य किया।

यूनानी सभ्यता जब यूनान से हट कर रोम पहुँची तो वहाँ ग्रीक का अध्ययन शुरू हुआ और लैटिन भाषा के अध्ययन पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। अतः लैटिन में भी व्याकरण लिखने की परम्परा चली। प्रथम लैटिन व्याकरण के प्रणेता १५वीं शती के विद्वान् लौरेंशस थे। इसके अतिरिक्त वारो तथा प्रिसिकिअन आदि ने भी सुन्दर व्याकरण लिखे। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण बाइबिल (Old Testament) का अध्ययन भी ग्रीस तथा रोम में हुआ। परिस्थितिवश लोग ग्रीक, लैटिन, और हिब्रू का अध्ययन करने लगे जिससे इन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ हो गया। तीनों भाषाओं के शब्दकोश भी बनने लगे। ध्वनि-साम्य और अर्थ-साम्य के आधार पर शब्दों की व्युत्पत्ति का कार्य प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार यूरोप में व्युत्पत्तिशास्त्र की नींव पड़ी। कुछ लोगों ने सीरियन तथा अरबी का भी अध्ययन किया। शब्दों को धातुओं पर आधारित माना गया। ग्रीक तथा लैटिन भाषाएँ किसी एक ही भाषा से निकली हैं यह मान्यता भी इसी काल की देन है।

नवीन युग के पहले जागरण-युग का सूत्रपात हुआ। इस काल में छापेखाने के आविर्भाव के कारण अध्ययन में प्रगति हुई। प्रसिद्ध दार्शनिक लाइबनित्स से प्रभावित होकर 'पीटर महान्' ने शब्दों के संग्रह का कार्य करवाया। पल्लस, हर्वस, तथा एडलंग आदि विद्वानों ने भी शब्दसंग्रह-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस आन्दोलन-युग के कारण तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।

१८ वीं शती में विद्वानों का ध्यान भाषा की उत्पत्ति की ओर आकृष्ट हुआ। रूसो ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में 'निर्णय-सिद्धान्त' की स्थापना की। इनके मतानुसार आरम्भ में मनुष्यों ने एकत्रित होकर वस्तुओं के सांकेतिक नाम' या प्रतीक निश्चित किये।

---

१. "साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" (काव्यप्रकाश, उ० ७)। काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने वाचक शब्द उसे कहा है जो साक्षात् संकेतित अर्थ को (अभिधाशक्ति के द्वारा) कहता है। कहने का आशय यह है कि व्यवहार से आवापोद्वाप द्वारा संकेत का ग्रहण होता है। यह हम पीछे 'अन्विताभिधान' के प्रसंग में बता चुके हैं। यह लोक-व्यवहार का प्रधान साधन है। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं :

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्त-वाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अर्थात् 'व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति अर्थात् व्याख्या, और सिद्ध ज्ञातपद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का

यह मत आज मान्य नहीं रहा। कॉण्डिलाक ने भाषा के उद्गम के सम्बन्ध में भावाभिव्यंजक ध्वनियों को आधार माना। इनका मत भी आंशिक रूप में ही मान्य है। हर्डर ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रूसो तथा कॉण्डिलाक के मतों का खण्डन किया। सन् १७७२ में हर्डर ने बर्लिन एकेडमी के लिए 'भाषा की उत्पत्ति' नामक निबन्ध लिखा जिसमें भाषा की दिव्योत्पत्ति के सिद्धान्त को निराधार सिद्ध करके भाषा को मनुष्य के प्रयास का प्रतिफल माना गया है। उनके विचार में मानव की आवश्यकताओं के अनुसार भाषा का क्रमशः विकास हुआ।

सन् १७९४ में बर्लिन एकेडेमी में एक प्रतियोगिता रखी गई जिसका विषय था 'पूर्ण और आदर्श भाषा पर लेख'। इस प्रतियोगिता में जर्मन विद्वान् डॉ० येनिश सर्वप्रथम रहे। डॉ० येनिश ने 'आदर्श भाषा' नामक निबन्ध लिखा जिसमें भाषा की सम्पन्नता, शक्ति, स्पष्टता, माधुर्य आदि के आधार पर ग्रीक, लैटिन, तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया था।

इस प्रकार भाषा-सम्बन्धी प्राचीन यूरोपीय अध्ययन की परम्परा समाप्त हुई। भाषा-विषयक प्राचीन भारतीय विश्लेषण तथा प्राचीन यूरोपीय विवेचन की यदि तुलना की जाये तो भारत की प्राचीन ज्ञान-गरिमा अतुलनीय सिद्ध होती है।

आधुनिक भाषाविज्ञान (तुलनात्मक भाषाविज्ञान) का जन्म यूरोप में उस समय हुआ जब यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत से प्रथम साक्षात्कार किया। इस प्रथम दर्शन का जैवसन ने भावपूर्ण शब्दों में वर्णन किया है, "Comparative Philology was born on the day when Sanskrit was opened to the eyes of the Western world'. (अर्थात् तुलनात्मक भाषाविज्ञान का जन्म उसी दिन हुआ जिस दिन पाश्चात्य जगत् ने प्रथम बार संस्कृत का साक्षात्कार किया।) यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत के परिचय को 'दिव्यज्ञानालोक' के समान अनुभव किया। उसी समय से सच्चे अर्थों में आधुनिक भाषाविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ।

आधुनिक युग को विद्वानों ने दो चरणों में विभक्त किया है : प्रथम, पुरातन युग (या प्रथम चरण) तथा द्वितीय, नवयुग (या द्वितीय चरण)।

पुरातन युग (प्रथम चरण)

यूरोप-निवासियों को सर्वप्रथम संस्कृत से परिचित कराने का श्रेय फ्रांसीसी पादरी कोएर्दू (Coeurdoux) को मिलना चाहिए। इन्होंने १७६७ में एक लेख में ग्रीक, लैटिन, तथा फ्रेंच आदि भाषाओं के कुछ शब्दों की तुलना संस्कृत शब्दों से की। इन्होंने इस लेख को फ्रेंच इंस्टिट्यूट को भेजा था किन्तु लोगों की अज्ञता के कारण

जाता है'। इनमें सबसे मुख्य उपाय व्यवहार है, क्योंकि अधिकांश शब्द
पहले व्यवहार से ही होता है। कोई जाति में संकेतग्रह मानते हैं
में, और कोई जातिविशिष्ट व्यक्ति में। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने
किया, प्र)
वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में संकेतग्रह

यह लेख ४० वर्ष तक प्रकाशित न हो सका । अत जो श्रेय कोएर्दू को मिलना चाहिए था वह सर विलियम जोन्स को उपलब्ध हुआ ।

सर विलियम जोन्स (Sir William Jones, १७४६-१७९४) ने १७८६ मे 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना करते हुए घोषणा की कि 'संस्कृत की रचना अद्भुत है, जो ग्रीक से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक विशद, एव इन दोनों से अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है'।

जोन्स महोदय ने ही प्रथम बार संस्कृत, ग्रीक, तथा लैटिन आदि के साम्य की ओर यूरोपीय विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया तथा गॉथिक, कैल्टिक, और पुरानी फारसी का एक ही मूल उद्गमस्थान होने की कल्पना की। उनके विचार मे ये भाषाएँ शब्द, धातु, तथा व्याकरण की दृष्टि से परस्पर-सम्बद्ध हैं। इन्होने १७८९ मे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। इससे यूरोप मे संस्कृत के प्रति अनुराग का सागर उमड पड़ा। इन्होंने संस्कृत के कई ग्रन्थो का अग्रेजी मे अनुवाद किया।

हेनरी थामस कोलब्रुक (Henry Thomas Colebrooke, १७६५-१८३७) ने जोन्स के कार्य को आगे बढाया। इनका मुख्य कृतित्व निम्न प्रकार है :

१ इन्होने भारतीय भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्वविज्ञान की सच्चे अर्थों मे आधार-शिला रखी।

२. १७९७-९८ मे 'ए डाइजेस्ट ऑव हिन्दू ला ऑन कॉन्ट्रैक्ट्स ऐण्ड एक्सेशन्स' नामक महाग्रन्थ लिखा।

३. 'ऑन दी वेदाज' नामक निबन्ध लिखकर इन्होने पाश्चात्य विद्वानों को वेदो के प्रति आकृष्ट किया।

४. इन्होंने स्वतन्त्र रूप से एक व्याकरण भी लिखा तथा अनेक संस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद किया।

आप संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, फारसी, और अरबी के भी विद्वान थे।

जर्मन विद्वान् फ्रीडेरिख फॉन श्लेगेल (Friederich Von Schlegel) ने पेरिस मे जाकर हैमिल्टन (एक युद्धबन्दी) से संस्कृत पढ़ी। इसके बाद इन्होने दर्शन तथा काव्यो का भी अनुशीलन किया। भारतीय भाषा और ज्ञान के सम्बन्ध मे इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीयों की भाषा और ज्ञान' (On the Language and the Wisdom of the Indians) है। श्लेगेल तथा उनके भाई दोनो रोमाण्टिक स्कूल के कर्त्ता-धर्ता थे। इन्होंने संस्कृत सीखकर जर्मनी मे संस्कृत का विशेष प्रचार किया। श्लेगेल के ग्रन्थ की मुख्य विशेषताएँ ये हैं :

१. इसमें संस्कृत के साथ यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया। तुलनात्मक व्याकरण की दृष्टि से यह प्रथम पूर्ण ग्रन्थ है।

२. इसमें ग्रीक, लैटिन, जर्मन, और संस्कृत के शब्दो की एकता सिद्ध की गई

है, तथा ध्वनि और अर्थ का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

३ ध्वनि-नियमों का संकेत भी किया गया है।

४ इन्होंने संसार की भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया : (१) संस्कृत तथा सगोत्रीय भाषाएँ, और (२) अन्य भाषाएँ।

५ भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनका मत था कि यह विभिन्न कालों पर हुई है।

अडोल्फ श्लेगेल (Adolf Schlegel, १७६७-१८४५ ई०) अपने भाई श्लेगेल की तरह ही संस्कृत के विशिष्ट विद्वान् थे। इनकी उपलब्धियाँ इस प्रकार हैं:

१. इन्होंने श्लिष्ट भाषाओं को संयोगात्मक तथा वियोगात्मक उपवर्गों में विभाजित किया और उनके अन्तर को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया।

२ इन्होंने संस्कृत-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थों, अनुवादों, तथा भाषा-विषयक ग्रन्थों के मिलन-सम्पादन द्वारा जर्मनी में एक व्यापक पैमाने पर संस्कृत-शोध की आधारशिला रखी।

३. १८२३ ई० में इनके भारतीय भाषाविज्ञान तथा व्याकरण के सम्बन्ध में अन्यान्य महत्त्वपूर्ण लेख 'इण्डीश बिब्लियोथेक' (त्रैमासिक पत्र) में प्रकाशित हुए।

विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट (Wilhelm Von Humboldt, १७६७-१८३५ ई०) भाषा-विज्ञान के गम्भीर अध्येता थे। इनका कार्य निम्न प्रकार है:

१. इन्होंने ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी।

२. इन्होंने भाषाओं के वर्गीकरण में अश्लिष्ट तथा श्लिष्ट का भेद किया।

३. ये शब्दों को धातुओं पर आधारित मानते थे। प्रत्ययों के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि वे कभी स्वतन्त्र शब्द अवश्य रहे होंगे तथा अर्थ-वैशिष्ट्य लाने के लिए उन्हें जोड़ा जाता होगा।

४. इनका मुख्य कार्य जावा की भाषा कवि (Kawi) पर है। संस्कृत के सम्बन्ध में हुम्बोल्ट का विचार था कि बिना संस्कृत के सर्वांगीण विश्लेषण के भाषा-विज्ञान अथवा भाषाविज्ञान से सम्बद्ध इतिहास पर किए गए अनुसन्धानों का कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता।[1]

रैस्मुस रास्क (Rasmus Rask, १७८७-१८३२ ई०) ने आइसलैण्ड की भाषा का अध्ययन किया। इनका कृतित्व इस प्रकार है·

१. इन्होंने १८११ ई० में 'आइसलैंडी का व्याकरण' लिखा।

२. १८१८ ई० में प्राचीन नॉर्स भाषा की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध की रचना की जिसका शीर्षक है, 'Investigation on the Origin of the Old Norse or Icelandic Language' इस ग्रन्थ के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए यूरोपीय भाषाविज्ञानी इन्हें १६ वीं० शताब्दी के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रथम विशेषज्ञ मानते हैं।

---

१. 'प्राचीन भारतीय साहित्य', विण्टरनित्स, पृ० १४।

३. इनके विचार मे किसी देश का इतिहास पुस्तकों की अपेक्षा वहाँ की भाषा, गठन, एवं शब्दसमूह से भलीभाँति जाना जा सकता है ।

४. अवेस्ता को आर्य परिवार मे स्थान दिलाने का श्रेय इन्हे प्राप्त है ।

५. द्रविड परिवार की भाषाओं को ये संस्कृत से सर्वथा पृथक् मानते थे ।

६ इन्होंने जर्मनिक भाषाओं के ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी नियम की खोज की किन्तु असामयिक मृत्यु के कारण इसका श्रेय इन्हे न मिल पाया । बाद मे यह नियम कुछ विकसित होकर 'ग्रिम नियम' कहलाया ।

जर्मन विद्वान् याकोब ग्रिम (Jacob Grimm, १७८५-१८६३ ई०) ने पहले कानून पढ़ा किन्तु बाद मे सम्पूर्ण जीवन भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन मे लगा दिया । इनकी उपलब्धियाँ इस प्रकार है :

१ इन्होंने प्राचीन जर्मन और सगोत्रीय भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया और १८१९ मे जर्मन भाषा का व्याकरण लिखा ।

२ इनके व्याकरण मे वर्ण-परिवर्तन पर महत्त्वपूर्ण प्रकरण है ।

३ रास्क से प्रेरणा लेकर ग्रिम ने उस ध्वनि-नियम का उल्लेख और विस्तार किया जो बाद मे ग्रिम के नाम पर 'ग्रिम-नियम' कहलाया ।

४. ग्रिम ने वाक्य-विज्ञान पर भी ऐतिहासिक पद्धति से मौलिक विचार किया तथा पारिभाषिक शब्दावली पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया ।

५. ग्रिम के विचार से छोटी-से-छोटी भाषा तथा बोली भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

जर्मन विद्वान् फ्रान्त्स बॉप (Franz Bopp, १७९१-१८६७) भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के जनक माने जाते हैं । संस्कृत के ये प्रकाण्ड पण्डित थे । इनका कृतित्व :

१. धातु-प्रक्रिया पर लिखी हुई इनकी पुस्तक भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

२. इन्होंने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जेन्द, आर्मीनियन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लाव, गॉथी, तथा जर्मन का गहन अध्ययन किया था ।

३. इनकी दूसरी पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' १८३३ और १८४९ के मध्य प्रकाशित हुई । इसमे उन्होने अनेक भाषाओं के व्याकरणो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया ।

४. बॉप ने संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर भी विचार किया । स्वरों के सम्बन्ध मे इनका विश्वास था कि संस्कृत 'अ' और यूरोपीय 'ऍ' तथा 'ऑ' मे कोई भेद नहीं है किन्तु बाद मे इन्होंने ग्रिम से प्रभावित होकर मूल भारोपीय भाषा के तीन मूल स्वर अ, इ, उ स्वीकार किये ।

५. प्रत्ययो के विषय मे इनका मत था कि ये पहले स्वतन्त्र तथा सार्थक शब्द रहे होंगे ।

६. भाषाविज्ञान के नियम भी वे कुछ ही अंशों मे ध्रुव मानते थे ।

बॉप ने श्लेगेल और ग्रिम की भी आलोचना की है तथा श्लेगेल के वर्गीकरण को अशुद्ध सिद्ध करके नवीन वर्गों की स्थापना की है।

इन्होंने आर्य धातुओं की सामी धातुओं से भिन्नता प्रदर्शित की और भाषाओं के तीन वर्ग किये :

१. व्याकरण के नियमों से रहित भाषाएँ, जैसे चीनी आदि।

२. एकाक्षरीय धातु की भाषाएँ, जैसे भारोपीय भाषाएँ।

३. द्व्यक्षर या तीन वर्ण की धातुवाली भाषाएँ, जैसे सामी (हिब्रू, अरबी)।

बॉप के तीन संस्कृत व्याकरणों ने और उनके संस्कृत कोश ने जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन को बड़ा प्रोत्साहन दिया। इनकी भाषा सरस, सरल, और हृदयस्पर्शी है। अन्वेषण-अध्येषण की गम्भीरता ने बॉप को एक नूतन विज्ञान का संस्थापक सिद्ध कर दिया है।

आउगुस्ट फ्रीडेरिख़ पॉट (August Friederich Pott, १८०२-१८८७) वैज्ञानिक व्युत्पत्तिशास्त्र (Scientific Etymology) के जनक माने जाते हैं। 'व्युत्पत्तिपरक अनुसंधान' ग्रन्थ में इन्होंने बॉप के कार्य को अधिक सुव्यवस्थित किया है। अनेक शब्दों की इन्होंने सुन्दर व्युत्पत्ति की तथा तुलनात्मक रीति से ध्वनियों की तालिका निर्मित की। इन्होंने बॉप के व्याकरण का भी संशोधन किया है।

के० एम० रैप (K.M. Rapp) ने ध्वनि-विज्ञान पर १८३६ से १८४१ ई० के बीच कई ग्रन्थ प्रकाशित कराये। इन्होंने :

१. जीवित भाषाओं के अध्ययन पर विशेष बल दिया।

२. ध्वनि और लिपि में विशुद्ध सम्बन्ध स्थापित करके मृत और जीवित दोनों ही भाषाओं का ध्वन्यात्मक अनुलेखन प्रस्तुत किया। इनका यह कार्य विशेष स्तुत्य है।

३. ग्रिम की जिन बातों को ये उचित मानते थे उनकी इन्होंने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। साथ ही जहाँ इन्हें ग्रिम-नियमों पर आपत्ति थी उनकी आलोचना भी की है।

जे० एच० बेडस्डार्फ ने भाषा के विकास के कारणों पर विशेष ध्यान दिया। इस विषय में इनका ग्रन्थ सन् १८२१ में प्रकाशित हुआ जिसमें भाषा-परिवर्तन के सामान्य कारणों पर सोदाहरण विचार किया गया है। इसमें इन्होंने ध्वनि-परिवर्तन के भी सामान्य कारणों पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में ये इस प्रकार हैं :

१. अशुद्ध श्रवण। २. अशुद्ध स्मरण। ३. अपूर्ण ध्वनि-अवयव। ४. आलस्य के कारण ध्वनि-विकृति। ५. सादृश्य की प्रवृत्ति। ६. स्पष्टीकरण का प्रयास। ७. नये विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रयास।

रुडोल्फ़ रॉथ (Rudolf Roth, १८२१-१८९५) तथा ओटो बाटलिंक (Otto Bohtling, १८१५-१९०४ ई०) दोनों संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् तथा भाषा-शास्त्र के विशिष्ट प्रणेता थे। इन दोनों विद्वानों ने मिलकर सेंट पीटर्सबर्ग

कोश (St. Petersburg Dictionary) नामक संस्कृत का बृहत् कोश बनाया। इस कोश मे प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति धातु के आधार पर दी गई है। यह कार्य इनके अथक परिश्रम एवं पाण्डित्य का द्योतक है। रॉथ ने जर्मनी मे वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई। इनकी शिष्यपरम्परा ने भी भाषा की दृष्टि से अनुसंधानात्मक कार्य किया है।

आउगुस्ट श्लाइखर (August Schleicher, १८२१-१८६८) ई० ने अनेक भाषाओं का ज्ञान अर्जित किया था। ये स्लाव तथा लिथुआनियन भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। जनभाषा की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये अपने समय के सर्वोच्च भाषाविज्ञानी माने जाते हैं। इनके अन्य कार्य इस प्रकार थे :

१ इन्होंने लोकगीतों, लोककथाओं, और उनकी भाषा के शब्दों का संग्रह किया।

२. ये भौतिक विज्ञान से भाषा का विशेष सम्बन्ध मानते थे।

३. ये भाषा को अधिक स्थिर मानते थे।

४ हीगेल से प्रभावित होकर इन्होंने भाषाओं के तीन वर्ग बनाये थे।

(क) अयोगात्मक भाषाएँ।

(ख) अश्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ।

(ग) श्लिष्ट योगात्मक भाषाएँ।

इन तीन वर्गों को उन्होंने बीजगणित की भाँति धातु=R, उपसर्ग=P, प्रत्यय =S तथा आन्तरिक परिवर्तन=X मान कर भी समझाया है।

५ इनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक कार्य भारोपीय भाषा का पुनर्निर्माण माना जाता है। अपने 'कम्पेण्डियम' मे इन्होंने मूल भाषा के स्वर आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

६ ये वेद भाषा के भी पण्डित थे। भाषा के अतिरिक्त ये दर्शन और भौतिक विज्ञान के भी ज्ञाता थे। १९वीं शती के अन्तिम तथा २०वीं शती के प्रथम चरण के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री कार्ल ब्रुगमान इन्हीं के शिष्य थे।

गेयोर्ग कुर्टिउस (Georg Curtine, १८२०-१८८५) ने ग्रीक भाषा का गहन अध्ययन किया था। इन्होंने ग्रीक क्रिया तथा ग्रीक शब्दों की व्युत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

इनके अतिरिक्त निकोलाई, मैड्विग, [illegible], तथा [illegible] का नाम ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में [illegible] लिया जाता है।

योहान निकोलाई मैड्विग (Johan Nikolai Madvig) ग्रीक तथा लैटिन के विशेष पण्डित थे। भाषाविज्ञान के मूलतत्त्वों का [illegible] विवेचन किया है, किन्तु डैनिश भाषा में लिखने के कारण वे अधिक [illegible] न पा सके।

मैक्समूलर (१८२३-१९००) ने [illegible] का [illegible] प्रचार किया

जिसके फलस्वरूप भाषाविज्ञान विद्वान् एवं जनसाधारण के द्वारा ग्राह्य एवं पुष्ट हुआ। इनका कार्य निम्न प्रकार है :

१. भाषाविज्ञान को ये भी श्लाइशर की भांति भौतिक विज्ञान मानते थे।

२. इन्होंने भाषा के उद्गम, प्रकृति, विराम, विकास के कारण, तथा वर्गीकरण आदि विषयों पर प्राप्त कार्यों को संगृहीत किया।

३. ये भारतीय भाषा, साहित्य, एवं दर्शन के विशेष पक्षपाती थे।

४. मैक्समूलर ने वैदिक भाषा के आधार पर आर्यों के मूल निवास की खोज का कार्य किया।

५. अर्थ-विज्ञान पर इनका महत्त्वपूर्ण शोध कार्य है।

६. इनका नागरी लिपि के विकास पर किया गया कार्य भी स्तुत्य है।

७. भारत और भारत के साहित्य के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी।

विलियम ड्वाइट् ह्विटनी (William Dwight Whitney, १८२७-१८९४) प्रथम अमेरिकन विद्वान् थे जिन्होंने भाषाविज्ञान पर कार्य किया। 'भाषा और भाषा का अध्ययन' तथा 'भाषा का जीवन और विकास' लिखकर ह्विटनी ने अमरता प्राप्त कर ली। इन्होंने मैक्समूलर की कड़ी आलोचना की तथा उनके विचारों में सुधार भी किया। उनकी दृष्टि में भाषा मानवीय उद्योग का फल है। मैक्समूलर ने भी इनकी आलोचना का उत्तर अपनी पुस्तक 'Chips from German Workshop' में दिया है। ह्विटनी का 'संस्कृत व्याकरण' १८१९ में प्रकाशित हुआ। यह अपने ढंग की अनूठी रचना है।

ह्विटनी तथा मैक्समूलर दोनों ही अपने समय के प्रसिद्ध सम्पादक, व्याख्याकार, आलोचक, अन्वेषक, तथा श्रेष्ठ विचारक थे।

नवयुग

नवयुग का प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के तृतीय चरण से माना जाता है। इस काल में नवीन वैज्ञानिकों की एक शाखा का आविर्भाव हुआ। इस शाखा के विद्वानों का प्राचीन शाखा के विद्वानों से ध्वनि आदि विषयों पर एकमत न हो सका। पहले तो इनका प्राचीन विद्वानों से अनेक विषयों पर संघर्ष चला, किन्तु इनके प्रबल प्रमाणों ने अन्त में प्राचीन विद्वानों को परास्त कर दिया। इन्होंने गहन अध्ययन कर विषय-क्षेत्र का विस्तार किया तथा पुरातन सिद्धान्तों में संशोधन किया। नव्य शाखावालों ने ध्वनि-नियमों के अपवाद का भी विरोध किया। आज नव्य शाखा के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया है। १८वीं शती तक भाषाविज्ञान का केन्द्र जर्मनी था किन्तु नव्ययुग में नव्य शाखा का केन्द्र पेरिस रहा। पेरिस में 'भाषा-विज्ञान-परिषद्' की स्थापना की गई। इसी काल में इंग्लैंड तथा अमेरिका में भी भाषाविज्ञान का कार्य विशेष समुन्नति को प्राप्त हुआ। अमेरिका में यन्त्रों आदि की सहायता से भाषाविज्ञान का सर्वेक्षण तथा विवेचन कार्य होने लगा। इस प्रगति को 'अमेरिकी प्रगति' के नाम से भी पुकारा जाता है। आधुनिक युग में भाषाविज्ञान का

क्षेत्र मे विस्तार हो गया है । संक्षेप मे उनका विवरण इस प्रकार है ।

हैरमान स्टाइन्थाल (१८२५-१८६६) भाषाविज्ञान के शोध-कर्ताओ मे इस युग मे अग्रगण्य माने जाते हैं। इन्होने भाषाविज्ञान का अध्ययन मनोविज्ञान के सहारे किया। १८५५ मे इन्होने व्याकरण, तर्कशास्त्र, तथा मनोविज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा । इन्होने चीनी तथा अफ्रीका की मण्डे-नीग्रो भाषाओ का सम्यक् अध्ययन किया था। इन्होने जीवित भाषा, मरणासन्न भाषा, तथा भाषाविज्ञान के अध्ययन मे मनोविज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

कार्ल ब्रुगमान का नाम नवीन भाषाविज्ञानियों मे विशेष समादृत है । उन्होंने भारोपीय भाषा के व्याकरण पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हेरमान ओस्टॉफ के साथ मिलकर इन्होंने रूप-रचना पर उल्लेखनीय कार्य किया है । इस ग्रन्थ को 'नई शाखा की गीता' के नाम से पुकारा जाता है। 'ग्रिम-नियम' के अनेक अपवादों तथा शकाओं का समाधान करने के लिए इन्होने 'अनुनासिक सिद्धान्त' की रचना की।

ध्वनि-नियम की ओर सकेत करनेवाले इहरे तथा डैनिश विद्वान् रास्क हैं । इन्होंने इसका सकेतमात्र किया था। इसकी पूर्ण विवेचना और छानबीन करनेवाले अध्येता जर्मन भाषा के महान् विद्वान् याकोब ग्रिम हैं । आपने १८१६ मे जर्मन भाषा का एक व्याकरण भी प्रकाशित कराया था। इसके दूसरे सस्करण मे ध्वनि-प्रकरण मे नवीनता की गई । इसी प्रकरण मे इन्होंने Lautverschiebung (वर्ण-परिवर्तन) का भी विवेचन किया है। ये नियम ग्रिम-नियम के नाम से प्रसिद्ध हुए। ग्रिम का व्याकरण रास्क से प्रभावित है । कार्ल ब्रुगमान् ने ग्रिम-नियम मे सशोधन किया है। ग्रासमान ने यह खोज की कि भारोपीय मूल भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानो पर महाप्राण हो तो सस्कृत, ग्रीक आदि मे एक अल्प-प्राण हो जाता है। इस प्रकार ग्रिम-नियम मे जितने अपवाद इस तरह के थे जिनमे ग्रिम-नियम से एक कदम आगे परिवर्तन हो जाता था उनका ग्रासमान के नियम से समाधान हो गया।

कार्ल वर्नर ने १८७७ मे 'वर्नर-नियम' की खोज की। ग्रिम तथा ग्रासमान के नियमो के बाद भी कुछ अपवाद रह गये थे जिनका समाधान वर्नर ने किया। स्वराघात पर भी वर्नर ने अच्छा प्रकाश डाला है। अस्कोली ने १८७० मे मूल भारोपीय भाषा में 'क्' ध्वनि के विषय मे बताया कि यह ध्वनि कुछ भाषाओ मे 'क्' ही रही और कुछ में 'स्' या 'श्' हो गई । इसी को आधार मान कर श्रेडर ने भारोपीय परिवार के शतम् तथा केन्तुम् वर्ग बनाये। यस्पर्सन ने व्याकरण, वाक्यविज्ञान, अंग्रेजी व्याकरण तथा भाषा की उत्पत्ति और विकास पर उल्लेखनीय कार्य किया है।

नवयुग के अन्य उल्लेखनीय विद्वानो मे स्वीट, पामर, टकर, वान्द्रिये, ग्रैफ, ग्रे, स्टुर्टवेंट, मास्पूर, सपीर, ब्लूमफील्ड, डैनियल जोन्स, डेलब्रुक, हेरमान पाल, एडगर, रोजापेल्ली, ओकले कोट्स, ब्लोल, वेस्टफाल, मीवर्स, स्टेंसिला जूले, हौप्ट, ब्रार्थ, मोलर, राइनिश, ब्लोक आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त

बीसवीं अन्य विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया है, जिसके क्षेत्र निम्नलिखित हैं:

१. भाषा विज्ञान के सामान्य सिद्धान्त। २. मनोविज्ञान पर आधारित भाषा-विज्ञान। ३. मानव-विज्ञान। ४. अर्थविज्ञान। ५. ध्वनिविज्ञान: (क) प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र, (ख) ध्वनिग्राम, (ग) ध्वनिशिक्षा, आदि।

इन विषयों में से सामान्य का पूर्ण विवेचन करनेवाले हेरमान पाल का नाम उल्लेखनीय है। पाल महोदय ने भाषा-परिवर्तन के कारणों पर पुस्तक लिखी है। हेरमान ऑस्टाफ ने ध्वनि-परिवर्तनों का सम्बन्ध स्नायु अवयवों से माना है तथा सादृश्य के आधार पर हुए परिवर्तनों को मनोविज्ञान से सम्बन्धित माना है। अर्थ पर सर्वप्रथम कार्य करने का श्रेय ब्रील महोदय को है। युंग, विलियम सेग, तथा कार्नेगेन ने बोली भाषा पर कार्य किया है। व्याकरण पर महत्त्वपूर्ण कार्य करने वालों में होल्ट, हर्ट तथा मोलर का नाम लिया जाता है। गाइनिस तथा स्नोक ने अफ्रीका, बूंट ने बर्मन, वीड्गि ने फीन, ब्लूमफील्ड ने अमेरिकन, तथा यस्पर्सन ने इंग्लिश भाषाओं पर शोध कार्य किया है। भारतीय भाषाओं पर कार्यकरने वालों में भण्डारकर, गुणे, सुनीतिकुमार चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा, सुकुमार सेन, बाबूराम सक्सेना, कत्रे, पी० बी० गुणे आदि के नाम प्रमुख हैं।

इस युग में प्रमुख कार्य करनेवाले स्कूल निम्न प्रकार हैं: (१) लन्दन स्कूल इसे ध्वनि-विज्ञानीय स्कूल भी कहते हैं। इसका प्रमुख सम्बन्ध इंग्लैण्ड के भाषातत्त्वज्ञों से है। इस स्कूल के विद्वानों में डैनियल जोन्स प्रमुख हैं।

(२) अमेरिकन स्कूल—'ध्वनिग्राम-विज्ञान' इसी स्कूल की देन है। इसी आधार पर इसे ध्वनिग्रामीय स्कूल भी कहते हैं। 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान' पर इस स्कूल में विशेष कार्य किया गया है। इस स्कूल में ध्वनि-ग्राम-विज्ञान, रूप-ग्राम-विज्ञान, कोश-विज्ञान-वाक्यविज्ञान, लिपिविज्ञान, पुनर्निर्माण, भाषा-भूगोल, ध्वनि-विज्ञान-भाषा-काल, क्रम-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि पर उल्लेखनीय कार्य हुआ है। यहाँ अध्ययन में यन्त्रों से भी सहायता ली जाती है।

(३) प्राग स्कूल—इस स्कूल के प्रमुख आचार्य त्रुबेत्सक्वाय तथा रोमन-याकोबसन हैं। यह स्कूल चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में है। इस स्कूल में ध्वनि, बलाघात, सुर, अक्षर, सगम, तथा ध्वनि-ग्रामादि पर मुख्य कार्य हुए हैं।

(४) कोपेनहेगेन स्कूल—यह स्कूल डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगेन में है। यह अन्य स्कूलों की अपेक्षा नवीन है। हेल्मस्लेव तथा उल्डल स्कूल के प्रमुख आचार्य हैं। इस स्कूल को ग्लोसेमेटिक स्कूल भी कहते हैं। इस स्कूल के आचार्यों ने बीजगणित और तर्क-शास्त्र के सहारे भाषा की समस्याओं के समाधान का प्रयास किया है।

आधुनिक काल में रूप-विज्ञान पर ब्लूमफील्ड, बर्नर्ड, मैथ्यू, रावर्ट, नाइडा, वैजेल, स्लोकम, हाकेट आदि का कार्य उल्लेखनीय है।

'वाक्य-विज्ञान' पर ब्रुगमान, बी० डेलब्रुक, लॉगे, यस्पर्सन, जोजेफ, जीमर, हेरमान पाल आदि का कार्य महत्वपूर्ण है।

यद्यपि अंग्रेज, जर्मन, फ्रांसीसी, अमरीकी, चीनी, सामी, लैटिन, यूनानी, हिन्दी, क्यूनीफार्म, ग्रेटन, मजरीकी आदि लिपियों पर अनेक विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं किन्तु भारतीय लिपियों पर कार्य करनेवाले प्रमुख विद्वान् बूलर, फ्लीट, बूर्नेल, सेवेल, मार्शल,वैडेल, हंटर, रास्स, जोन्स, गौरीशंकर, हीराचन्द ओझा, प्राणनाथ, राजबली पाण्डेय, शामा शास्त्री, तथा एच० कृष्णशास्त्री आदि हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में भाषाओं का विश्लेषणात्मक विवेचन हुआ है। इन पुरातन सिद्धान्तों में या तो मूलतः परिवर्तन हुए हैं अथवा उनमें परिष्कार किया गया है। आधुनिक युग की मुख्य देन इस प्रकार है :

१. प्रत्ययों तथा व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ।
२. तालव्य-नियम का आविष्कार।
३ धातुओं के सम्बन्ध में मूल रूप ही प्रारम्भिक माने जाते थे। किन्तु अब इनका खण्डन करके वृद्धिवाले रूप ही प्रारम्भिक माने गये।
४. सादृश्य के आधार पर भाषा का विकास माना गया।
५. भाषा के परिवर्तन के कारणों का विवेचन तथा वर्गीकरण किया गया।
६. भाषा का उद्गम वाक्य में मानकर वाक्यरूप पर विचार किया गया।
७. यन्त्रों के सहारे ध्वनियों का वैज्ञानिक अध्ययन होने लगा।
८. पद-विन्यास तथा छन्दों पर भी कार्य निष्पन्न हुआ।
९ प्राचीन भाषा की अपेक्षा बोलियों तथा जीवित भाषाओं को विशेष रूप से विवेच्य विषय बनाया गया।
१० भाषा पर आधारित वैज्ञानिक दृष्टि से प्रागैतिहासिक खोज की जाने लगी।
११ भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक मत उपस्थित किये गये।
१२ भाषाओं के वैज्ञानिक रीति से वर्गीकरण प्रस्तुत किये गए।
१३ ध्वनि-परिवर्तन, वर्गीकरण आदि पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया।
१४ अर्थ-विज्ञान पर भी महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया गया।
१५. विभिन्न विज्ञानों से भाषाविज्ञान के सम्बन्ध पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया गया।

इस प्रकार भाषाविज्ञान के [illegible] ज्ञान-धारा के दर्शन द्वारा भाषाविज्ञान के [illegible] किया।

भाषा के विविध रूप

डॉ० विष्णुशरण 'इन्दु'

सामान्यतः भाषा मनुष्यों के परस्पर विचार-विनिमय का वह साधन है जो ध्वनि-संकेतों पर आधारित होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव भाषा का व्यवहार करता है। भाषा की उत्पत्ति और विकास का आधार समाज है अतः भाषा एक सामाजिक वस्तु है। समाज और व्यक्ति के समान भाषा की धारा भी चिरकाल से अखंडित एवं अविच्छिन्न रूप में निरन्तर प्रवाहित होती आ रही है और भविष्य में भी होती रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति की भाषा से कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रखती है जिसमें उनका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व समाहित रहता है। साथ ही सामाजिक दृष्टि से भी भाषा में विभिन्न रूपों का उद्भव हो जाता है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के कथनानुसार 'भाषा के विभिन्न रूपों के प्रधानतः' ६ आधार अपनाए गये हैं—(१) इतिहास (२) भूगोल (३) प्रयोग (४) साधुता (५) प्रचलन तथा (६) निर्माता। इन आधारों पर भाषा के अनेक भेद-विभेद किये जा सकते हैं। भाषा की निरन्तर परिवर्तनशीलता उनके विविध रूपों के द्वारा ही सम्पन्न होती है। यहाँ भाषा के कुछ प्रमुख रूपों का संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

बोली—बोली का अर्थ है बोलचाल की भाषा। मनुष्य अपनी साधारण बोलचाल में भाषा के जिस स्वरूप का प्रयोग करता है वही बोली कहलाता है। दूसरे शब्दों में दैनिक जीवन में बोलचाल में आनेवाले भाषा के उस रूप को जो स्थानीय होता है बोली कहते हैं। बोली साहित्य रचना का माध्यम नहीं बनती अपितु वह बोलने वालों के मुख में ही रहती है इसीलिए अंग्रेजी में बोली के लिये 'पैत्वा' (Patois) शब्द का प्रयोग किया गया है। किंतु बहुत-से विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। बोली का क्षेत्र सीमित एवं संकुचित होता है। एक छोटे-से ही क्षेत्र में इसका प्रयोग किया जाता है। इसे बहुत-सी व्यक्ति-भाषाओं का सामूहिक रूप कहा जा सकता है। एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलियाँ भी हो सकती हैं। कुछ विद्वान् बोली को विभाषा या उपभाषा भी कहते हैं किंतु व्यावहारिकता की दृष्टि से इन तीनों शब्दों में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। एक लेखक के मतानुसार बोली या उपभाषा उस

अपभाषा—स्थानीय तथा प्रान्तीय रूपों के अतिरिक्त भाषा के ऐसे रूप भी होते हैं जो एक स्थान पर रहने पर भी मनुष्यों के भिन्न-भिन्न वर्गों या समूहों में पाए जाते हैं। उनके लिए अपभाषा का प्रयोग किया जा सकता है। समुदाय, जाति, या वर्गविशेष की बोली को अंग्रेजी में स्लैंग (Slang) कहा जाता है। यह अपभाषा या अपबोली किसी समुदाय या जातिविशेष में ही सीमित होती है। सामाजिक दृष्टि से अपभाषा में ऐसे प्रयोग प्रवेश कर जाते हैं जो शिष्ट रुचि के ग्राह्य नहीं होते, इसलिए इसे गँवारू बोली, वर्गबोली, अथवा नगर बोली भी कहा जाता है। अपभाषा में शास्त्रीय आदर्शों तथा शब्दनिर्माण के सिद्धान्तों की उपेक्षा की जाती है और कई बार उसमें अश्लीलपन भी आ जाता है; उदाहरणार्थ, पागल, सौंडी या सौंडिया, भोल्लड़, गप्पू, हजामत बनाना या मरम्मत करना, एलटी करना, मक्खन लगाना आदि। इन शब्दों में अर्थ की हीनता ध्वनित होती है। वास्तव में अपभाषा निश्चित आदर्शों एवं सिद्धान्तों से पतन की सूचिका कही जा सकती है। एक खास तरह का प्रयोग इस सीमा में लोकप्रियता प्राप्त कर जाता है। अपभाषा के प्रयोगों के द्वारा उसके बोलनेवाले वर्गविशेष या जातिविशेष की प्रवृत्तियों का बड़ी सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। नवीनता, उच्छृंखलता, संस्कारहीनता, विनोद, अशिष्टता आदि अनेक कारणों से अपभाषा के विकास में सहायता मिलती है। कभी-कभी अपभाषा में प्रयुक्त शब्दों में इतनी शक्ति आ जाती है कि वे शिष्ट भाषा में भी प्रयुक्त किये जाने लगते हैं।

भाषा (टकसाली भाषा)—जिस प्रकार कोई बोली अपने क्षेत्र की अन्य बोलियों में प्रमुखता पाकर विभाषा का रूप धारण कर लेती है उसी प्रकार अनेक विभाषाओं में जब कोई विभाषा अपनी विशेषताओं के कारण प्रधानता प्राप्त करके शिष्टसमुदाय के व्यवहार एवं शिक्षा का माध्यम बन जाती है तब उसे भाषा, टकसाली भाषा, या स्टैण्डर्ड भाषा (Standard Language) कहते हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "कई विभाषाओं में व्यवहृत होनेवाली एक शिष्ट-परिगृहीत विभाषा ही भाषा (या टकसाली भाषा) कहलाती है।" साराश यह है कि जब कोई विभाषा साहित्यिक, राजनीतिक, तथा सामाजिक कारणों से महत्ता प्राप्त करके अन्य विभाषाओं के क्षेत्र में भी शिष्ट व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय तथा शिक्षा-दीक्षा का माध्यम बन जाती है तथा राजकीय कार्यों एवं रचनाओं में भी प्रयुक्त होने लगती है तब वह टकसाली या स्टैण्डर्ड भाषा कहलाती है। इसे परिनिष्ठित भाषा भी कहा जाता है। यह भाषा अपने क्षेत्र की सम्पूर्ण विभाषाओं को प्रभावित करती है और स्वयं भी उनसे निरन्तर प्रभावित होती रहती है। भाषा के इस व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त की जानेवाली समस्त विभाषाएँ अपने-अपने स्वरूप एवं स्थान की रक्षा करती हुई भी भाषा को सदैव महत्त्वपूर्ण पद प्रदान करती रहती हैं। विभाषाएं अपने-अपने अधिकार की दृष्टि से अपने-अपने प्रान्त या प्रदेश में बोली जाती हैं परन्तु भाषा प्रत्येक प्रान्त में विभाषा के रहते हुए भी अपना स्थान बना लेती है और

अन्तरप्रांतीय विचार-विनिमय में सहयोग देती है । उदाहरणार्थ, प्राचीन काल में संस्कृत ने यह स्थान प्राप्त किया था और आधुनिक काल में हिन्दी ने भाषा के इस महत्त्वपूर्ण रूप को प्राप्त किया है । भाषा में काव्य, शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि सभी विषयों की रचना होती है । स्टैण्डर्ड या टकसाली भाषा का अपना एक निश्चित व्याकरण होता है और उसकी एक परिनिष्ठित व्यवस्था होती है । हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, रूसी, फ्रांसीसी, जर्मनी, अरबी आदि इसी श्रेणी की भाषाएँ हैं ।

साहित्यिक भाषा—साहित्य में प्रयुक्त की जानेवाली भाषा को ही साहित्यिक भाषा कहते हैं । शिष्ट-वर्ग अथवा शिक्षित समुदाय ही इस भाषा का बोलचाल के रूप में व्यवहार कर सकता है । काव्य, साहित्य, पत्र-पत्रिका, तथा कथा आदि की पुस्तकों में इसी भाषा का उपयोग किया जाता है । अतः यह शिक्षित मनुष्यों की भाषा बन जाती है । भाषाविज्ञान-कोश के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—"किसी भाषा की वह विभाषा जो सर्वश्रेष्ठ समझकर साहित्यरचना के लिए प्रयुक्त की जाय तथा बोलचाल की भाषा की अपेक्षा कुछ विशिष्ट हो ।" इसी कारण डॉ० मंगलदेव ने उसे साहित्यिक भाषा कहा है 'जिसमें अच्छा-खासा साहित्य हो और जिसको मुख्यतया शिक्षित समुदाय या शिष्टवर्ग ही बोल सकता हो ।' साहित्यिक भाषा यद्यपि बोल-चाल की भाषा से ही विकसित होती है किन्तु फिर भी उसमें अपनी विशिष्टता, परिनिष्ठितता, एवं सौंदर्य वर्तमान होता है । बोलचाल की भाषा निरन्तर प्रवाहित होनेवाली सरिता के समान प्राकृतिक रूप में वर्तमान रहती है किन्तु साहित्यिक भाषा एक नहर के समान कलात्मक रूप धारण कर लेती है । साहित्यिक भाषा बनकर बोल-चाल की भाषा स्थिर हो जाती है । देश और काल के अनुसार जनभाषा के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्यिक भाषा की धारा में परिवर्तन होता रहता है । हिन्दी का साहित्यिक रूप बोलचाल के रूप के समानान्तर ही परिवर्तित होता देखा जा सकता है । कभी-कभी साहित्यकार जनता में राष्ट्रभाषा और शिष्ट भाषा के प्रचार और प्रसार में बहुत बड़ा योगदान देते हैं तो कभी जनवाणी को अपने साहित्य का माध्यम बनाकर वह पुरानी भाषा का परित्याग करके युग-द्रष्टा का कार्य करते हैं ।

राष्ट्रभाषा—किसी राष्ट्र अथवा देश के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रयुक्त तथा समझी जानेवाली भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है । भौगोलिक दृष्टि से एक क्षेत्र की कई विभाषाओं में ऊँचा स्थान पाकर व्यवहार में आनेवाली किसी एक विभाषा को भाषा कहते हैं किन्तु जब कोई भाषा अपना क्षेत्र पारकर अन्य भाषा-क्षेत्रों एवं भाषा-परिवारों में अपना प्रवेश कर लेती है और समस्त राष्ट्र में व्याप्त हो जाती है तथा सार्वजनिक कार्यों में उसका उपयोग होने लगता है तब वह राष्ट्रभाषा के स्थान को प्राप्त कर लेती है । यह भाषा देश में सर्वाधिक प्रचलित होती है । सुगम, विशाल साहित्य से पूर्ण, अधिक-से-अधिक लोगों के व्यवहार में आनेवाली, सरल लिपि से युक्त, सम्पूर्ण देश या राष्ट्र को एक सूत्र में जोड़ देने वाली, तथा संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाली भाषा ही राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी है । डॉ० भोलानाथ

तिवारी के कथनानुसार "जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी बढ़ती है और अन्य भाषाक्षेत्र तथा अन्य परिवार-क्षेत्र में भी इसका प्रयोग सार्वजनिक कार्यों में होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है।" राष्ट्रभाषा में समस्त राष्ट्र के जीवन की झांकी प्राप्त होती है। राष्ट्र में रहनेवाले मानवों के जीवनादर्श, उनके विचार, उनकी संस्कृति, तथा भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का बोध होता है। यह राष्ट्रभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधती है तथा सभी भाषाओं और विभाषाओं से सहयोगपूर्ण आदान-प्रदान करके राष्ट्र के विकास एवं अभिवृद्धि में सहायक होती है। आज हिन्दी ने, जो केवल मेरठ और दिल्ली की विभाषा थी, विकासोन्मुख होते-होते सब भारतीय भाषाओं पर अपना अधिकार जमा लिया है। आज वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तों—महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल आदि—तथा अन्य परिवार के प्रदेशों—मद्रास, मैसूर आदि—में धीरे-धीरे व्यवहार की भाषा बन रही है। इस प्रकार हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के पद को प्राप्त करती जा रही है। समस्त यूरोप में कुछ समय पहले फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। प्राचीन भारत में संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि ने भी राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त किया था। किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अपने ही देश की भाषा को ही राष्ट्रभाषा का स्थान देना गौरवपूर्ण माना जाता है। प्रायः सभी राष्ट्रों में अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा का विकास होता है।

राजभाषा—किसी राज्य के शासन तथा राजकीय व्यवस्था के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसे राजभाषा या राज्यभाषा कहते हैं। सरकारी कार्यों की भाषा ही राजभाषा है। कुछ लोग राष्ट्रभाषा और राजभाषा को एक समझते हैं किन्तु ये दोनों पृथक्-पृथक् होती हैं। प्रायः राजभाषा या तो राष्ट्रभाषा को ही बनाया जाता है अथवा राजभाषा ही राजकीय संरक्षण के कारण धीरे-धीरे प्रचलित होकर राष्ट्रभाषा बन जाती है। किन्तु पराधीन देशों में स्थिति भिन्न होती है। वहाँ राजभाषा और राष्ट्रभाषा में पृथक्ता होती है। उदाहरणार्थ, भारत में मुगल शासनकाल में राजभाषा फारसी थी और अंग्रेजों के शासन में राजभाषा अंग्रेजी रही किन्तु राष्ट्रभाषा का स्थान हिन्दी को प्राप्त था। वर्तमान भारत की राजभाषा हिन्दी है परन्तु [illegible] भारत की राष्ट्रभाषा होते हुए भी कुछ विरोधों के कारण इसे [illegible] राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त होने में बाधाएँ डाली जा रही हैं किन्तु भविष्य में यह [illegible] जब भारत की राजभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों [illegible] हिन्दी [illegible]। बोली, विभाषा, भाषा, तथा राष्ट्रभाषा के [illegible] इस प्रकार कहा जा सकता है—[illegible] के लिए 'बोली', [illegible] भाषा के लिए 'विभाषा', [illegible]

बनकर राजभाषा के स्थान को भी प्राप्त कर लेती है।

अन्तरराष्ट्रीय भाषा—जब किसी राष्ट्र की राष्ट्रभाषा अपने साहित्यिक गौरव अथवा राजनीतिक आदि अन्य कारणों से संसार की अन्य राष्ट्र-भाषाओं से अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त करके उनके पारस्परिक विनिमय का माध्यम भी बन जाती है तब वह अन्तरराष्ट्रीय अथवा विश्वभाषा कहलाती है। अपने इस गौरवपूर्ण स्थान के कारण वह संसार के अनेक राष्ट्रों की राष्ट्रभाषा एवं राज्यभाषा का स्थान भी ग्रहण कर लेती है। मध्यकाल में फ्रेंच को यह स्थान प्राप्त था, आज अंग्रेजी भाषा अन्तरराष्ट्रीय अथवा विश्वभाषा के गौरवपूर्ण पद की ओर अग्रसर हो रही है। राजनीतिक, धार्मिक, तथा व्यापारिक कारणों से अंग्रेजी आज समस्त विश्व में फैली हुई है। अफीका, अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया, तथा एशिया महाद्वीपों के अनेक राष्ट्रों में अंग्रेजी का प्रभाव है और आज संसार के कई देशों में उसे समझा और बोला जाता है।

इसी प्रकार भाषा के विविध रूपों में विशिष्ट भाषा, गुप्तभाषा, कृत्रिम भाषा, मिश्रित भाषा आदि भी उल्लेखनीय हैं जिनका निर्माण आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुकूल कर लिया जाता है। यह अवश्य है कि भाषा के इन रूपों का प्रयोग किसी-किसी लक्ष्य को लेकर होता है जिसमें उनकी अपनी सीमित विशेषताएँ निहित होती हैं। भाषा के और भी अनेक रूप हो सकते हैं जिनका उल्लेख विस्तारभय के कारण यहाँ नहीं किया जा सकता। भाषा की एक अविरल धारा विभिन्न रूपों के आधार पर युग और समाज के अनुरूप सदैव से प्रवाहित होती रही है और भविष्य में भी निरन्तर गतिशील रहेगी।

... सकती है, किन्तु परम्परा से स्वतः प्राप्त होने वाली नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि भाषा को सीखना पड़ता है, अतः उसको अर्जित सम्पत्ति कह सकते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में भी थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है। भाषा इस दृष्टि से तो अवश्य अर्जित कहलाएगी कि व्यक्ति जन्म से उसको प्राप्त न करके प्रयत्नपूर्वक उसका अर्जन करता है किन्तु अर्जित सम्पत्ति का यह आशय भी हो सकता है कि वह सम्पत्ति पहले से बिल्कुल हो ही न और व्यक्ति ने उसका नवनिर्माण किया हो। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति यदि अपने लिए एक नवीन भवन का निर्माण करता है तो वह सर्वथा नया निर्माण कहलायेगा क्योंकि वह भवन वहाँ पहले से था नहीं। पर भाषा के सम्बन्ध में यह बात नहीं। वह तो पहले से ही विद्यमान रहती है और व्यक्ति केवल उसे सीखता है, उसका नूतन निर्माण नहीं करता। यह हो सकता है कि बाद में चलकर वह अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा के बल पर भाषा में नवीन शैली का सर्जन करे अथवा कुछ नये शब्दों को गढ़कर भाषा में प्रचलित करा दे, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने किसी सर्वथा नूतन भाषा का निर्माण किया है। अतः व्यक्ति की दृष्टि से भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी उसके द्वारा निर्मित या कल्पित नहीं मानी जा सकती। यदि कुछ लोगों ने इस प्रकार की किसी नई भाषा (जैसे, एस्परैन्तो आदि) को गढ़ने का प्रयत्न किया भी है तो वे उसको किसी जनसमाज में चलवाने में असफल रहे हैं। भाषा

भाषा-सम्बन्धी टिप्पणियाँ

डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल

(क) भाषा अर्जित सम्पत्ति है। परम्परागत होते हुए भी वह परम्पराप्राप्त नहीं। अर्जित होते हुए भी वह व्यक्तिकृत नहीं।

'भाषा' को जब हम सम्पत्ति कहते हैं तो सबसे पहले इसकी उपयोगिता की ओर ध्यान जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति के बिना मनुष्य का जीवन-निर्वाह कठिन है उसी प्रकार भाषा के बिना भी मनुष्य अपना काम नहीं चला सकता। उसके बिना हम अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को न तो दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं और न ही उनको समझ सकते हैं।

सम्पत्ति सामान्यतः तीन प्रकार की हो सकती है। एक तो वह जो हमें अपने पुरखों से परम्परागत रूप मे स्वतः ही प्राप्त हो गई है। दूसरी जिसका हमने स्वयं अर्जन किया है और जो हमे पहले से प्राप्त न थी। तीसरी सम्पत्ति वह जो समाज की है और जिस पर समस्त समाज का समान अधिकार है; उदाहरणार्थ, स्कूल, कालेज, सरकारी अस्पताल, एवं पब्लिक पुस्तकालय आदि।

अब हमे यह देखना है कि भाषा को उपर्युक्त तीन प्रकार की सम्पत्तियों में से किस प्रकार की सम्पत्ति कहा जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह है कि जिस प्रकार कुलविशेष मे जन्म लेने के कारण उसकी सम्पत्ति पर हमारा स्वतः ही अधिकार हो जाता है, उसके लिए हमें कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, भाषा उस प्रकार की परम्पराप्राप्त सम्पत्ति नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो बच्चे को जन्म के साथ ही पिता या परिवार की भाषा अनायास ही प्राप्त हो जाती, उसे उसको सीखना न पड़ता। पर बात ऐसी नहीं है। एक विद्वान् पिता के पुत्र को भी भाषा सीखने के लिए उतना ही प्रयास और संघर्ष करना पड़ता है जितना कि स्वयं पिता को अपने बचपन मे करना पड़ा होगा। बच्चा प्रारम्भिक अवस्था मे बार-बार भूलें करता है, उच्चारण और शब्दप्रयोग दोनों में पुनः-पुनः अशुद्धियाँ करता है और परिवारवाले बड़े प्रयत्नपूर्वक उसकी भूलों को सुधारते रहते हैं तथा ऐसा क्रम दिन-रात वर्षों तक चलता है, तब कहीं जाकर बच्चा भाषा सीख पाता है, किंतु उस पर अधिकार प्राप्त

सकता है, किन्तु परम्परा से स्वत प्राप्त होने वाली नहीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि भाषा को सीखना पडता है, अत उसको अर्जित सम्पत्ति कह सकते है किन्तु इस सम्बन्ध मे भी थोडी सावधानी की आवश्यकता है। भाषा इस दृष्टि से तो अवश्य अर्जित कहलाएगी कि व्यक्ति जन्म से उसको प्राप्त न करके प्रयत्नपूर्वक उसका अर्जन करता है किन्तु अर्जित सम्पत्ति का यह आशय भी हो सकता है कि वह सम्पत्ति पहले से बिल्कुल हो ही न और व्यक्ति ने उसका नवनिर्माण किया हो । उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति यदि अपने लिए एक नवीन भवन का निर्माण करता है तो वह सर्वथा नया निर्माण कहलायेगा क्योकि वह भवन वहां पहले से था नही। पर भाषा के सम्बन्ध मे यह बात नही। वह तो पहले से ही विद्यमान रहती है और व्यक्ति केवल उसे सीखता है, उसका नूतन निर्माण नही करता। यह हो सकता है कि बाद मे चलकर वह अपनी विद्वत्ता एव प्रतिभा के बल पर भाषा मे नवीन शैली का सर्जन करे अथवा कुछ नये शब्दो को गढकर भाषा मे प्रचलित करा दे, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने किसी सर्वथा नूतन भाषा का निर्माण किया है। अतः व्यक्ति की दृष्टि से भाषा अर्जित सम्पत्ति होते हुए भी उसके द्वारा निर्मित या कल्पित नही मानी जा सकती। यदि कुछ लोगो ने इस प्रकार की किसी नई भाषा (जैसे, एस्पेरेन्तो आदि) को गढने का प्रयत्न किया भी है तो वे उसको किसी जनसमाज मे चलवाने मे असफल रहे है । भाषा

5. अर्जित सम्पत्ति होने में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि किसी भी भाषा को बोलनेवाला व्यक्ति किसी भी अन्य भाषा को प्रयत्न के द्वारा सीख सकता है। यदि भाषा केवल परम्परा से ही प्राप्त होनेवाली वस्तु होती तो एक भाषाभाषी कोई दूसरी भाषा कभी सीख ही न पाता।

इससे अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि भाषा सामाजिक वस्तु है, व्यक्तिगत नहीं, अर्थात् बच्चा किसी समाज में रहकर ही भाषा सीखता है। भाषा वास्तव में है भी सामाजिक वस्तु ही और उसकी उपयोगिता समाज की दृष्टि से ही है। भावों एवं विचारों के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए ही भाषाओं का जन्म हुआ है और समाज में रहकर काम चलाने के लिए भाषा एक अनिवार्य साधन है किंतु यदि कोई व्यक्ति किसी सर्वथा निर्जन टापू में अकेला रहता हो तो उसका काम भाषा के बिना भी चल सकता है। बच्चा जिस समाज में रहेगा वहाँ की भाषा सीख जायेगा और यदि वह मानवसमाज से कोई सम्पर्क न रखे तो उसे कोई भाषा न आयेगी। मिस्र के शासक सैमेटिकुस तथा अकबर के संबंध में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि उन्होंने पैदा होते ही कुछ बच्चों को मानव-संपर्क से दूर रखा। परिणाम यह हुआ कि वे कोई भाषा न सीख पाये। इसी प्रकार दो-एक बच्चे, जिन्हें भेड़िये उठा ले गये थे, भेड़ियों की ध्वनियों को छोड़ और कोई भाषा बोलना न सीख पाये। अतः सिद्ध हुआ कि भाषा समाज में रहकर ही सीखी जा सकती है; वह एक सामाजिक वस्तु है। व्यक्ति भाषा में अपनी इच्छा से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, वह समाज से भाषा जैसी-की-तैसी सीखना चाहता है, क्योंकि इसी में समाज और व्यक्ति दोनों का हित है। हर व्यक्ति यदि भाषा में परिवर्तन ला सके तो भाषा एक दूसरे को बोधगम्य न रहे और उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाये। अतः इस विषय में समाज और व्यक्ति दोनों ही सावधानी बरतते हैं, किन्तु फिर भी भाषा में परिवर्तन होता ही है चाहे वह कितनी ही मन्थर गति से क्यों न हो।

अभिप्राय प्रकट किया होगा, न कि शब्दों द्वारा। यहाँ यह बात अवश्य जान लेनी चाहिए कि वाक्य एक शब्द का भी हो सकता है और अनेक का भी। 'आ', 'जा', आदि अभिव्यक्तियाँ देखने में शब्दरूप होने पर भी अभिप्राय की दृष्टि से पूरे वाक्य ही हैं। 'आ' का अर्थ होगा 'तुम यहाँ आओ' और 'जा' का अर्थ है 'तुम वहाँ जाओ' या 'तुम यहाँ से जाओ'। इस सम्बन्ध में बच्चे की भाषा का अध्ययन रोचक सिद्ध होगा। बच्चा जब बोलना शुरू करता है तो वाक्यों में ही बोलता है, अर्थात् देखने में शब्दरूप होने पर भी अभिप्राय की दृष्टि से उसका कथन वाक्य-रूप ही होता है। उदाहरणार्थ, बच्चा जब भूख से व्याकुल होकर 'दूध' कहता है तो उसका आशय होता है—'मुझे दूध पिलाओ'। माँ उसके आशय को समझकर तुरन्त दूध ले आती है। इस प्रकार अपनी भाषा-सम्बन्धी असमर्थता के कारण बच्चा चाहे वाक्य न बोल सके पर उसका अभिप्राय समग्र वाक्य का अवश्य रहता है। इस सम्बन्ध में डॉ० तारापुरवाला लिखते हैं कि आरम्भ में बच्चे को शब्दों का कोई ज्ञान नहीं होता। उसके सामने जो भी परिस्थिति आती है वह उसे अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है। यह अभिव्यक्ति कुछ मिली-जुली ध्वनियों के रूप में हठात् प्रकट हो जाती है किन्तु इन ध्वनियों को अलग-अलग करने की बुद्धि बच्चे में नहीं होती। सब लोग जानते हैं कि बच्चे बड़ी तेजी में कुछ ध्वनिसमूह बोलने चले जाते हैं और कभी-कभी काफी देर तक बोलते रहते हैं, मानो वे हमें अपनी देखी या सोची हुई बातों को बताना चाहते हों। बच्चों की यह बड़बड़ाहट हमें निरर्थक-सी लगने पर भी बोलनेवालों को निश्चय ही सार्थक लगती होगी। इस अवस्था में बच्चे ध्वनिसमूह का ही उच्चारण करते हैं, ध्वनियों को अलग-अलग करके नहीं बोलते। धीरे-धीरे जब वे अपने माता-पिता एवं घरवालों को स्पष्ट शब्दों का अलग-अलग उच्चारण करते सुनते हैं तब उन्हें शब्दों की कल्पना होती है और वे 'भैया' 'मैया' 'पानी' आदि उच्चारण करना सीखते हैं। कहने का आशय यह है कि आरम्भ में ध्वनिसमूह या समग्र वाक्य का ही उच्चारण होता है, उस वाक्य का शब्दों में विश्लेषण बाद की बात है।

यही बात हम आदिम जातियों की भाषाओं में भी पाते हैं। उत्तरी अमरीका के 'रेड इंडियन्स' की भाषाओं में 'वाक्य-शब्दों' (Sentence-words) का प्रयोग मिलता है, अर्थात् वे शब्द-जैसे दीखनेवाले वाक्य बोलते हैं जिनका विश्लेषण शब्दों में करना सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, प्राचीन 'हूरोन-इरोक्वा' (Huron-Iroquois) नामक भाषा में निम्न 'वाक्य-शब्द' द्रष्टव्य है

एस्चोइरहोन्=मैं पानी के लिए गया।
हेत्सोनहा=पानी के लिए जाओ।
ओन्देक्वोहा=बाल्टी में पानी है।
दाउस्ताग्नेवाचारेट्=बर्तन में पानी है।

उपर्युक्त चार वाक्य चार शब्दों-जैसे प्रतीत होते हैं किन्तु उनका अभिप्राय पूरे वाक्यों का है। इनमें 'पानी' का अर्थ चारों वाक्यों में आता है किन्तु कोई नहीं

कह सकता कि वह मूलभाषा के किस अंश से द्योतित होता है। वास्तव में इन वाक्य-शब्दों का विश्लेषण शब्दों के रूप में किया ही नहीं जा सकता क्योंकि इस भाषा के बोलनेवालों को स्वतन्त्र शब्दों की स्वय भी कोई कल्पना नहीं। प्रत्येक परिस्थिति उनके मन मे जो प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है वह एक समग्र वाक्य के रूप में फूट पड़ती है, न कि अलग-अलग शब्दों के समूह के रूप मे।

सच तो यह है कि कोई भी वक्ता—वह चाहे कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो—बोलते समय अपने अभिप्राय को दूसरे तक प्रेषित करने की ही चिन्ता करता है, अर्थात् समग्र वाक्य को शीघ्रता से बोलना चाहता है, उस वाक्य के विधायक शब्दो को अलग-अलग करके स्पष्ट रूप से उच्चरित करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं रहता। उदाहरणार्थ, 'तुम कब आए ?' को वह शीघ्रता से 'तुम् कबाए ?' कहकर पुकारेगा, 'सब ही' को 'सभी,' 'अब ही' को 'अभी' कहेगा। अंग्रेजी मे 'हाऊ डू यू डू ?' को सर्वसाधारण 'हाऊ डि यी डू ?' (How d' ye do ?) अथवा 'हाऊ डिडू ?' (How didoo ?) कहते हैं। फ्रेंच और सस्कृत मे तो सधि के कारण यह प्रवृत्ति और भी बढ जाती है। उदाहरणार्थ, एक फासीसी 'नू आलो अपारि'* वाक्य को इसी रूप मे उच्चरित न कर 'नूजालो ज पारि' (हम पेरिस जाते हैं) कहता है। इसी प्रकार 'मैं जाना चाहता हूँ' को सस्कृत मे 'गन्तुमिच्छाम्यहम्' कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वक्ता का लक्ष्य समग्र अभिप्राय या वाक्य पर रहता है, न कि शब्दो पर। वास्तव मे वाक्यो का शब्दो मे विश्लेषण तो बाद का काम है, वैयाकरणों की विश्लेषक बुद्धि का परिणाम है, वक्ता का इससे कोई सबन्ध नहीं। वैयाकरणो ने जिन भाषाओं पर अभी तक अपनी बुद्धि का अधिक प्रयोग नहीं किया है, वे अब भी वाक्य की अवस्था मे ही हैं, उनमे शब्दों की कल्पना नहीं की जा सकी है।

आजकल लिखते समय शब्दो के मध्य मे जगह छोड़कर तथा वाक्यो मे विरामादि चिह्नों का प्रयोग करके लिखा या छापा जाता है। इस कारण यदि कोई व्यक्ति भाषा को लेखादि के सहारे सीखता है तो उसे अलग-अलग शब्दों की स्पष्ट कल्पना रहती है, किन्तु जो लोग मौखिक रूप से कोई भाषा सीखते हैं वे वाक्य में शब्दों का विच्छेद प्राय. ठीक-ठीक नहीं कर पाते, यद्यपि अपने अभिप्राय को अच्छी तरह दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं। मैंने स्वयं यह बात अपने एक परिचित सज्जन के सम्बन्ध में देखी कि वे तमिल प्रदेश में रहने के कारण तमिल बोल तो खूब लेते थे किन्तु वाक्य में स्थित शब्दों को अलग-अलग करने की उन मे जरा भी क्षमता न थी। उनकी दृष्टि में कोई वाक्य एक समग्र भाव या विचार को प्रकट करने की इकाई मात्र था। प्राचीन काल के जो हस्तलिखित ग्रन्थ मिलते हैं उनमे सभी शब्दों को मिलाकर बिना विराम आदि के लिखा गया है। उस भाषा के बड़े विद्वानों को छोड़ सामान्य व्यक्ति उन लेखों या वाक्यों या शब्दों में विश्लेषण करने में अपने को अस-मर्थ पाता है। लिखते समय शब्दों के मध्य स्थान छोड़ते हुए भी बोलते समय उन

* Nous allons à Paris

स्वतन्त्र शब्दों का उच्चारण इतनी शीघ्रता से किया जाता है कि एक वाक्य एक ध्वनि-समूह प्रतीत होता है। श्रोता भी सुनते समय किसी वाक्य के अलग-अलग शब्दों पर दृष्टि केन्द्रित न करके उस समग्र वाक्य एवं उससे अभिव्यंजित अर्थ पर ही ध्यान रखता है। कोशकार भी किसी शब्द के अर्थ को स्पष्ट एवं निश्चित रूप में बताने के लिए उसका वाक्य में प्रयोग करके दिखाता है। यदि वह ऐसा न करे तो कोश के सहारे शब्दों को जान लेने पर भी हम उनके प्रयोग द्वारा अपने अर्थ को दूसरों पर प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हों।

उपर्युक्त सारी बातों से एक ही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का परमावश्यक या इकाई वाक्य है, न कि शब्द। आदि मानव ने सबसे पहले वाक्यों में बोलना आरम्भ किया। बच्चा भी वाक्यों में ही बोलता है। देखने में इस प्रकार के वाक्य चाहे शब्द-जैसे लगें पर अभिप्राय की दृष्टि से वे वाक्य ही माने जाएँगे।

परवर्ती वैयाकरणों या विद्वानों के प्रयास से वे वाक्य शब्दों में विश्लिष्ट कर लिए जाते हैं। ऐसा सुविधा एवं वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से आवश्यक होता है। किसी भाषा को पुस्तकों की सहायता से यदि हम सीखना चाहें तो इस प्रकार का विश्लेषण सर्वथा आवश्यक एवं उपयोगी सिद्ध होता है। इसी विश्लेषण के फलस्वरूप कोश-ग्रन्थों की रचना सम्भव है जिनके बिना किसी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि हमारा मस्तिष्क वाक्यरचना कर सकने की शक्ति प्राप्त करता ही रहता है, किन्तु हम शब्दों से वाक्यों की ओर बढ़ते हैं तो सुविधा रहती है। अपनी भाषा का भी वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें वाक्यों का शब्दों में किया हुआ विश्लेषण उपयोगी लगता है। इस प्रकार व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से शब्द ही भाषा का परमावश्यक ठहरता है। यहाँ यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञानी इस तथ्य को भलीभाँति जानते थे कि वाक्य ही भाषा का मूलाधार है। भर्तृहरि के प्रसिद्ध ग्रंथ 'वाक्यपदीय' का एक श्लोक (१/७३) है :

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

अर्थात्, 'वर्ण से अलग उसके अवयवों का अस्तित्व नहीं, पद (शब्द) से अलग वर्णों का अस्तित्व नहीं, और वाक्य से अलग पदों की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं'। आशय यह है कि वर्ण और पद (शब्द) असत्य हैं। वाक्य ही नित्य और सत्य है। उसी से वर्ण और पद की काल्पनिक प्रतीति होती है (अर्थात् वाक्य के सहारे ही वर्ण और पद की कल्पना कर ली जाती है, वाक्य से भिन्न इनकी कोई सत्ता नहीं)।

सारांश यह है कि यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से भाषा का आरम्भ वाक्यों से हुआ किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिए अर्थ की दृष्टि से शब्द को उसकी सबसे छोटी इकाई माना गया और उच्चारण की दृष्टि से शब्दों का विश्लेषण वर्णों (ध्वनियों) में कर लिया गया।

(ग) भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर रहती है (अर्थात्

भाषाएँ संहिति या संश्लेषावस्था से व्यवहिति या विश्लेषावस्था की ओर जाती है) :

संसार की भाषाओं की वाक्यरचना सामान्यतः चार प्रकार की मानी जाती है—व्यासप्रधान, प्रत्ययप्रधान, विभक्तिप्रधान और समासप्रधान। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये चार प्रकार की वाक्यरचना भाषाओं के उत्तरोत्तर विकासक्रम की चार अवस्थाओं की द्योतक है, अर्थात् आरम्भिक अवस्था में सारे शब्द स्वतन्त्र स्थिति रखते हैं (यह व्यासप्रधानता की अवस्था है)। फिर उनमें से कुछ शब्द घिसकर प्रत्ययों का रूप धारण कर लेते हैं। ये प्रत्यय दूसरे शब्दों के साथ जुड़कर ही अर्थ देते हैं, किन्तु अपनी सत्ता अलग भी बनाये रखते हैं, शब्द के साथ घुलमिलकर एक नहीं हो जाते (यह प्रत्ययप्रधानता की अवस्था है)। ये ही प्रत्यय और अधिक घिसकर प्रकृति (=धातु और प्रातिपदिक) के साथ मिलकर एकरूप हो जाते हैं, यद्यपि इनकी सत्ता का आत्यन्तिक लोप नहीं होता। मिलते समय ये प्रकृति में कुछ विकार भी उत्पन्न कर देते हैं (यह विभक्तिप्रधानता की अवस्था है)। अन्तिम अवस्था वह है जब प्रकृति और प्रत्यय का भेद करना सर्वथा असम्भव हो जाता है (यह समासप्रधानता की अवस्था है)। उदाहरणार्थ, 'राम' व्यासावस्था का द्योतक है, 'रामसहित' या 'रामवत्' प्रत्ययावस्था का, 'रामाय' या 'रामैः' विभक्ति-अवस्था का, और 'अस्मि' (=मैं हूँ) समासावस्था का। सारांश यह है कि इन विद्वानों के मतानुसार भाषा वियोग (या, व्यासावस्था) से संयोग (या, समासावस्था) की ओर अग्रसर होती है। अपने इस मत की पुष्टि के लिए वे तीन तर्क उपस्थित करते हैं :

(१) उनका पहला तर्क है कि चीनी भाषा आदिम भाषा के स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। पिछले तीन हजार वर्षों से चीनी पूर्णतया व्यासप्रधान रही है। शब्द की वहाँ स्वतन्त्र स्थिति है और शब्दों के स्थान एवं सुर के सहारे ही वाक्य में उनका अर्थ निश्चित होता है। उदाहरणार्थ :

न्गो ता नी

मैं मारता तू (=मैं तुझे मारता हूँ)

वाक्य में शब्दों का क्रम यदि बदल दिया जाए तो अर्थ बदल जाएगा :

नी ता न्गो

तू मारता मैं (=तू मुझे मारता है)।

यहाँ यह बात द्रष्टव्य है कि 'नी' या 'न्गो' शब्दों में कोई ऐसा चिह्न नहीं जिससे उनका कर्ता या कर्म होना निश्चितरूपेण सूचित हो। यदि वे क्रिया से पहले आए तो कर्ता हो गए, यदि क्रिया के बाद आए तो कर्म हो गए। प्रत्येक शब्द इस प्रकार पूर्णतया स्वतन्त्र है, किसी विभक्ति या प्रत्यय से बँधा हुआ नहीं। इस प्रकार भाषा का प्राचीन रूप व्यासप्रधान था।

(२) उनका दूसरा तर्क है कि बहुत-से ऐसे शब्द जो आज प्रत्यय बन गए हैं किसी समय स्वतन्त्र शब्द थे; जैसे कि अंग्रेजी 'गौडली' शब्द का 'ली' मूलतः लिक् (lik) था, अर्थात् पहले 'गौडली' न कहकर 'गौडलिक्' कहा जाता था। 'लि

एक संज्ञाशब्द था जिसका अर्थ था 'आकृति या शरीर'।[1] इसी प्रकार 'फ्रेन्डशिप' का 'शिप' प्रत्यय पहले 'शेप' (Shape) था और लोग 'फ्रेंडशेप' (=मित्र की आकृति, अर्थात् मित्रता) कहते थे। इसी प्रकार हिन्दी का 'में' कारक-चिह्न संस्कृत 'मध्ये' से एवं 'पै' 'पर' संस्कृत 'पार्श्वे' शब्द से बने हैं। इससे पता चलता है कि आज की विभक्तियाँ एवं प्रत्यय कभी स्वतन्त्र शब्द थे, जो कि व्यासावस्था का द्योतक है। इस प्रकार के प्रत्यय जब प्रकृति के साथ और अधिक घनिष्ठ भाव से जुड़ने लगते हैं तो भाषाएँ समासावस्था की ओर बढ़ने लगती हैं। जैसे कि, बँगला भाषा का 'एर' या 'र' कारक-चिह्न (जो सम्बन्धसूचक 'का' का द्योतक है) शब्द के साथ जुड़कर एक हो जाता है, उदाहरणार्थ, 'रामेर' (=राम का) या 'बालिकार' (=बालिका का)। इससे सूचित होता है कि बँगला भाषा आज भी व्यासावस्था से समासावस्था की ओर बढ़ रही है।

(३) इन विद्वानों का तीसरा तर्क 'चिन्तनाणुवाद' के नाम से विख्यात है। चिन्तनाणुवाद=चिन्तन+अणुवाद, अर्थात् जैसे प्रत्येक अणु स्वतन्त्र सत्ता रखता है किन्तु जब बहुत-से अणु आपस में जुड़ जाते हैं तो विभिन्न वस्तुओं का निर्माण होता है, अणु की सत्ता पहले की है और वस्तुएँ बाद में बनती हैं, ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति के मन में पहले पूरा विचार न आकर अलग-अलग विचारखण्ड या भावखण्ड आते हैं और ये ही विचारखण्ड आपस में जुड़कर एक सम्पूर्ण विचार बन जाते है। 'विचारखण्डों' के द्योतक है 'शब्द' और 'सम्पूर्ण विचार' का द्योतक है 'वाक्य'। अतः मनुष्य के मन में पहले अलग-अलग शब्द आते हैं और ये शब्द ही मिलकर बाद में वाक्य बन जाते हैं। इस प्रकार ये लोग भाषा का आरम्भ शब्द से मानते है, वाक्य से नहीं।

इन उपर्युक्त तीनों तर्कों का खण्डन करके विद्वानों ने निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि भाषाओं का स्वाभाविक विकास समासावस्था से व्यासावस्था की ओर होता है, न कि इसके विपरीत। उपर्युक्त तर्कों का खण्डन इस प्रकार किया गया है —

(१) पहले तर्क का उत्तर यह है कि यदि चीनी भाषा पहले व्यासप्रधान थी तो आज ३००० वर्षों के विकासकाल में उसको समासप्रधानता की ओर बढ़ जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा न हुआ। वह आज भी व्यस्त है। इससे व्यास से समास की ओर जाने की प्रवृत्ति का सूचन कहाँ होता है?

इसके अतिरिक्त आधुनिक भाषावैज्ञानिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि चीनी भाषा प्राचीन काल में संयोगावस्था में थी, अर्थात् सविभक्तिक थी। वे विभक्तियाँ कालान्तर में घिस गईं। आज जो शब्द एक-एक दो-दो अक्षरों के मिलते हैं वे पहले अधिक अक्षरों के थे। इस प्रकार चीनी भाषा भी संहिति से व्यवहिति

---

[1] 'The suffix 'ly' is from 'lic', which was a substantive meaning, 'form, appearance, body'. (दे० ओटो यस्पर्सन की पुस्तक 'लंग्वेज, इट्स नेचर, डेवेलपमेंट, एँड ओरिजिन'

बोलते समय हम शब्दों को अलग-अलग करके बोलने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि समग्र वाक्य को तेजी से बोल जाते हैं जिनमें शब्द परस्पर-ग्रथित से मालूम पड़ते हैं। ऐसा हम इसलिए करते हैं क्योंकि हमारा लक्ष्य अपने भाव को प्रकट करना है, न कि अलग-अलग शब्दों को बोलना। सारांश यह है कि वाक्य का शब्दों में विश्लेषण वक्ता का नहीं अपितु वैयाकरण का काम है और यह कार्य सदा ही भाषाएँ बनने के बाद हुआ है। कोशकार भी शब्दों का अर्थ समझाने के लिए उनका वाक्यों में प्रयोग करके दिखाते हैं। स्पष्ट है कि वाक्यों का प्रयोग भाषाओं के आरम्भ से ही हुआ है, उनका शब्दों में विश्लेषण बाद की वस्तु है। अतः विच्छिन्नतावाद का तर्क पूर्णतया खण्डित हो जाता है।

विभिन्न भाषाओं का इतिहास भी यही बताता है कि भाषाएँ संहिति से व्यवहिति (समासावस्था से व्यासावस्था) की ओर बढ़ती हैं। उदाहरणार्थ, यूरोप की लिथुआनी भाषा आज २००० वर्ष बाद भी वैदिक संस्कृत के समान ही समस्त (या संहित) है, क्योंकि पहाड़ों और दलदलों से घिरे होने के कारण उस देश के लोगों से अन्य जातियों का सम्पर्क बहुत कम हुआ।

दो हजार वर्ष पूर्व अरबी और हिब्रू दोनों सजातीय भाषाएँ संश्लिष्ट थीं। अरबी आज भी बहुत-कुछ वैसी ही है क्योंकि अरब लोगों ने विजेता होने के कारण अपनी भाषा को शासितों पर थोपा, उनकी भाषा को सीखने की चेष्टा नहीं की। इसलिए उनकी भाषा अरबी पर अन्य भाषाओं का प्रभाव अधिक न पड़ा। स्वभावतः ही वह विकसित न होकर पहले के समान संश्लिष्ट बनी रही। दूसरी ओर हिब्रूभाषी यहूदियों को संसार में मारे-मारे फिरना पड़ा और अनेक देशों में बसकर वहाँ की भाषाओं को सीखना पड़ा। फलतः उनकी मातृभाषा हिब्रू इस संपर्क के कारण बहुत-कुछ विश्लिष्ट या व्यवहित हो गई।

इसी प्रकार अवेस्ता की प्राचीन भाषा वैदिक संस्कृत के ही समान समस्त (=समासप्रधान) थी किन्तु आधुनिक फारसी भारोपीय परिवार की सर्वाधिक व्यस्त (=व्यासप्रधान) भाषा है।

वैदिक संस्कृत को ही देखें तो उसे हम पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि अवस्थाओं से गुजरकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक आते-आते निरन्तर संहिति से व्यवहिति की ओर बढ़ते हुए पाते हैं।

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि "भाषा प्रारंभिक काल में जटिल, समस्त और स्थूल रहती है, धीरे-धीरे वह सरल, व्यस्त, सूक्ष्म, और सुकुमार होती जाती है। इतिहास और विज्ञान एक से बढ़कर एक अनेक हो जाने की ही साक्षी देते हैं। यद्यपि अपवादों की भी कमी नहीं है, तथापि उनकी मात्रा अनुपात में इतनी अल्प है कि उन्हें अपवाद ही माना जा सकता है, सामान्य प्रवृत्ति का द्योतक नहीं"।[1]

---

१ श्यामसुन्दरदासकृत 'भाषा-रहस्य'।

भाषा-विकास के कारण

डॉ० राजकुमारी सक्सेना

भाषा परिवर्तनशील है। भाषा का परिवर्तन ही उसके विकास के नाम से अभिहित किया जा सकता है। भाषा का यह विकास उसके प्रत्येक अंग—ध्वनि, पद, वाक्यविन्यास, और अर्थ में होता है। परिवर्तन के कारण एक ही परिवार तथा वर्ग की भाषाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है। भाषा के इस विकास के कारण ही संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों ने जन्म लिया।

भाषा के विकास के कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: (१) बाह्य—वे कारण जिन पर वक्ता का वश नहीं रहता। (२) आभ्यन्तरिक—वे कारण जो वक्ता में निहित रहते है, अथवा जो वक्ता के प्रयत्न तथा परिश्रम से सम्बन्ध रखते हैं।

बाह्य कारणों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—(१) भौगोलिक, (२) ऐतिहासिक, (३) सांस्कृतिक, (४) साहित्यिक, (५) सामाजिक, (६) वैयक्तिक।

१ भौगोलिक—भौगोलिक परिस्थितियों का भाषा-विकास में एक विशेष स्थान होता है। कुछ विद्वानों ने भौगोलिक परिस्थितियों को भाषा-विकास के कारणों में सर्वाधिक महत्व दिया है। इनमें हाइनरिख, बेन्फी, तथा कॉलित्स आदि भाषामनीषियों के नाम उल्लेखनीय है। इन भाषामनीषियों का कथन है कि जिन व्यक्तियों को अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों में जीवनयापन करना पड़ता है उनका स्वभाव शिथिलतायुक्त होता है और जिन्हें प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियों में जीविका अर्जित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है उनके स्वभाव में कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ता, तथा सबलता के दर्शन होते है तथा इन परिस्थितियों का इन विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में रहनेवाले व्यक्तियों की भाषाओं पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। इसके साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि जलवायु के अनुसार भाषा में भी थोड़ा भेद हो जाता है। ठंडे देश के लोग मुँह कम खोलते है और रेगिस्तान के निवासी तूफानों के कारण मुँह को ढके रहते हैं, इसीलिए इनके उच्चारण अस्पष्ट होते है। यह बात अवश्य है

कि वेन्फी, कॉलिन्स आदि विद्वानों की इस धारणा में सत्य का कुछ अंश है क्योंकि भिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में रहनेवाले व्यक्तियों की भाषाओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि भौगोलिक परिस्थितियों का मनुष्य के स्वभाव के साथ-साथ भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है, किन्तु इस कारण को सर्वाधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि :

(१) विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में रहनेवाले व्यक्तियों के उच्चारण-अवयवों की रचना में तो कोई अन्तर नहीं होता।

(२) एक बार जब भाषा व्यवहार में आ जाती है तो भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

(३) ठंडे तथा पर्वतीय प्रदेश के कर्मठ व्यक्तियों को मुँह खोलकर बोलने में कठिनाई का अनुभव नहीं होना चाहिए।

२. ऐतिहासिक—भाषाविकास के कारणों में इतिहास का प्रभाव भी एक विशेष महत्त्व रखता है। विभिन्न जातियाँ जब परस्पर मिलती हैं तो उनकी भाषाएँ भी एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रहतीं। आज जो हिन्दी में अरबी, फारसी, पुर्तगाली, अंग्रेजी आदि के कितने ही शब्द घुल-मिल गए हैं, वे सब भाषा पर ऐतिहासिक कारणों के प्रभाव का समर्थन करते हैं, उदाहरणार्थ, फारसी के किस्मत, कुदरत, फर्मान, इनाम आदि, अरबी के किताब, तावीज आदि; तुर्की के कैंची, कुर्सी, चाकू, बहादुर, पुर्तगाली के बाल्टी, अलमारी, कमीज आदि, अंग्रेजी के गिलास, स्कूल, स्टेशन आदि शब्द हिन्दी भाषा में इतना स्थान पा गए हैं कि ये विदेशी-जैसे प्रतीत ही नहीं होते। हिन्दी में अन्य भाषाओं के न केवल शब्द ही अपितु वाक्यविन्यास, मुहावरे लोकोक्तियाँ आदि भी अपना लिए गए हैं। इसी प्रकार हिन्दी ही नहीं विश्व की सभी भाषाओं पर भी विभिन्न जातियों के मिलने-जुलने के कारण प्रभाव पड़ा है। संयुक्त राज्य अमेरिका की वर्तमान भाषा का आधार यद्यपि अंग्रेजी ही है किन्तु यूरोप की लगभग सभी आधुनिक भाषाओं के तत्त्वों के सम्मिश्रण से वह इंगलैण्ड की अंग्रेजी से अधिक ओज और प्रवाह से युक्त हो गई है।

३ सांस्कृतिक—जब दो संस्कृतियाँ परस्पर मिलती हैं तो भी भाषा के विकास पर प्रभाव पड़ता है। ऐतिहासिक क्रान्ति के अतिरिक्त व्यापार तथा धर्म-प्रचार आदि के कारण से भी कभी-कभी भिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क होता है, तो भाषा पर प्रभाव पड़ता है। अन्य व्यापारिक जातियों के सम्पर्क से भी भाषा में परिवर्तन होता है। व्यापारिक सम्बन्धों के कारण अन्य जातियों की नई वस्तुओं के साथ उनके नाम भी भाषा में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। प्राचीन काल में भारत के धार्मिक व सांस्कृतिक अभियानों तथा व्यापारिक सम्बन्धों के कारण संस्कृत के कितने ही शब्दों ने भारत के आसपास के द्वीपों तथा देशों की भाषाओं में स्थान प्राप्त कर लिया। इण्डोनेशिया में ६० प्रतिशत मुसलमान हैं किन्तु उनकी भाषा में ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत के तथा संस्कृत शब्दों के आधार पर थोड़े परिवर्तित रूप में

मिलते हैं। इसी प्रकार जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों में भारत के कुछ रीति-रिवाज, कलाओं आदि को ही नहीं संस्कृत के अनेक शब्दों को भी अपना लिया गया और आज तक कुछ परिवर्तन के साथ ये शब्द वहाँ की भाषाओं में अपना स्थान बनाए हुए हैं।

आंग्ल संस्कृति के प्रभाव के कारण हमारे देश में ब्रह्मसमाज की स्थापना हुई और अंग्रेजी-शब्दावली के आधार पर अनेक शब्दों की रचना और प्रयोग चल पड़े। इसी प्रकार आर्यसमाज की स्थापना के कारण संस्कृत के अनेक तत्सम तथा अप्रचलित शब्दों ने भाषा में स्थान पाया। ईसाई मत ने भी अनेक शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि संसार की विभिन्न भाषाओं को प्रदान की।

विभिन्न देश के विद्वानों, आलोचकों, तथा कलाकारों के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द ज्यों-के-त्यों तथा कभी-कभी थोड़े रूपान्तर के साथ हिन्दी में अपना लिए गए हैं। कुछ अपनी ही भाषा के शब्दों को लेकर और उन्हें नवीन रूप देकर नवीन शब्द भी गढ़े गए हैं, उदाहरणतः, परिप्रेक्ष्य, अधुनातन, मूल्यांकन, दृष्टिकोण, विहंगम दृष्टि आदि।

४. साहित्यिक—साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन होने के कारण भी भाषा में विकास होता है। वीरगाथा-काल की रचनाओं में युद्ध-व्यापार के कुशल चित्रण के कारण भाषा में एक परुषता तथा ओज का अभिवर्द्धन हुआ। भक्ति-साहित्य ने भाषा को लालित्य तथा सारल्य प्रदान किया। इसी प्रकार रीतिकाल में भाषा के सँजाने तथा सँवारने का कार्य रीति-कालीन ग्रन्थों ने किया। श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में भाषा को व्याकरणसम्मत बनाने का स्वर ऊँचा उठा तो हिन्दी भाषा ने पुनः परिष्कार तथा विकास की ओर अपना पग बढ़ाया। प्रसाद और पन्त की रचनाओं ने तो हिन्दी भाषा को कोमलता, कमनीयता, तथा भावप्रवणता की ओर अग्रसर किया और अब जो प्रगतिवादी, प्रयोगवादी आदि रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं और प्रकाशित हो रही हैं, इन्होंने भी अनेक नवीन शब्दों का सर्जन किया। इसके अतिरिक्त एक देश के साहित्य ने दूसरे देश के साहित्य को भी प्रभावित किया; उदाहरणतः, अंग्रेजी साहित्य ने बँगला, हिन्दी आदि के साहित्यों को प्रभावित किया। ये सब साहित्य द्वारा भाषा-विकास में योगदान के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

५. सामाजिक—समाज में आनेवाले प्रत्येक परिवर्तन का भाषा के विकास में एक बड़ा हाथ होता है। समाज की क्रान्ति और शान्ति—दोनों ही अवस्थाओं का भाषा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। शान्ति के समय भाषा में कोमलता और मार्दव का विकास होता है, साथ ही भाषा समृद्धि की ओर अग्रसर होती है, किन्तु क्रान्ति के समय भाषा सांकेतिक और थोड़ी विकृत हो जाती है क्योंकि मनुष्यों के पास इतना समय नहीं होता कि वे भाषा के सँवारने तथा शब्दों के शुद्ध तथा पूर्ण उच्चारण की ओर ध्यान दें। इसके अतिरिक्त युद्ध के समय में भाषा तीव्र वेग से परिवर्तित होती है, जब कि शान्ति के समय में भाषा अधिक स्थिर रहती है।

६. वैयक्तिक—जब कभी किसी देश में महान् व्यक्तियों का जन्म होता

है जो उनके विचारों का न केवल उस देश के व्यक्तियों के आचार-विचार पर प्रभाव पड़ता है अपितु उस देश की भाषा पर भी उसकी एक गहरी छाप पड़ती है और उस देश की विचारधारा तथा भाषा ही नहीं अन्य देशों की विचारधारा तथा भाषाएँ भी प्रभावित होती हैं। उदाहरणार्थ, गांधीजी द्वारा विशिष्ट अर्थों तथा नवीन शब्दों में प्रयुक्त शब्द भाषा के अंग बन गए हैं जैसे, हरिजन, खादी, हिन्दुस्तानी, आश्रम आदि और उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द non-violence, non-co-operation, Ahimsa आदि अंग्रेजी में स्थान पा गए हैं और विदेशियों द्वारा भी इन्हीं रूपों तथा इन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

आभ्यन्तरिक कारण—आभ्यन्तरिक कारणों में प्रमुख हैं

(१) अनुकरण की अपूर्णता
(२) मात्रा, सुर, बलाघात का प्रभाव
(३) प्रयत्न-लाघव
(४) सादृश्य

१ अनुकरण की अपूर्णता—अनुकरण ध्वनि को सुनकर तथा उच्चारण-अवयवों की गति देख कर किया जाता है और अधिकांशतः होता यह है कि अनुकर्त्ता कभी-कभी अनजाने ही और कभी-कभी जानबूझकर कुछ अंश छोड़ देता है अथवा कभी-कभी कुछ अंश छोड़कर अपनी तरफ से उसमें कुछ और ही जोड़ देता है। इस प्रवृत्ति के कारण भाषा में परिवर्तन होता रहता है। आर० एम० पिडल तथा ए० डुरेफर ने इसे भाषा-विकास का सबसे बड़ा कारण बताया है।

अनुकरण की अपूर्णता के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं

(क) शारीरिक वैभिन्न्य
(ख) प्रमाद अथवा ध्यान की कमी
(ग) जानबूझकर
(घ) अशिक्षा
(ङ) लिपिदोष

(क) शारीरिक वैभिन्न्य—प्रत्येक मनुष्य अपने शरीर के वाग्यन्त्र की सहायता से बोलता है। हम देखते हैं कि समाज में कितने ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी आवाज और उच्चारण स्पष्ट नहीं होता और कुछ व्यक्ति ऐसे भी देखने में आते हैं जो पढ़े-लिखे होने पर भी शब्दों का उच्चारण ठीक नहीं कर पाते। इस वैभिन्न्य का भाषा के विकास पर जो प्रभाव पड़ता है वह कई पीढ़ियों के बाद पता चल पाता है।

शारीरिक कारणों से स्पष्ट न बोलनेवालों के सम्बन्ध में एक श्लोक मिलता है—

'न करालो, न लम्बोष्ठो, नाव्यक्तो, नानुनासिकः ।
गद्गदो, बद्धजिह्वश्च न वर्णान् वक्तुमर्हति ॥'[1]

---

१. अग्निपुराण

अर्थात् जिसका मुँह बहुत फैला हुआ हो, जिसके दाँत बाहर को निकले हुए हों, जिसके होंठ लम्बे हों, जो अस्पष्ट बोलता हो, जो नाक से उच्चारण करनेवाला (उच्चारण के समय नाक का स्वर अधिक लगाकर बोलनेवाला) हो और जिसकी जिह्वा बद्ध हो—ऐसा व्यक्ति वर्णों का ठीक उच्चारण नहीं कर पाता। कितने ही व्यक्तियों को 'ल' को 'य', तथा 'र' 'श' को 'स' अथवा 'फ' बोलते हुए देखा जाता है।

इस सम्बन्ध में कहा गया है कि "देश, काल, अनुचित उपयोग, और राजसिक, तामसिक भोजन का मनुष्य के कोमल स्वरयन्त्रों पर भारी प्रभाव पड़ता है। उनके कारण स्वरयंत्रों में सकोच अथवा वृद्धि आदि विकार हो जाते हैं। इस कारण वे स्वरयंत्र वर्णों का शुद्ध उच्चारण करने में अशक्त हो जाते हैं।"[1]

वृद्धावस्था अथवा चोट लग जाने के कारण, दाँत गिर जाने अथवा टूट जाने के पश्चात् भी उच्चारण अस्पष्ट हो जाता है।

(ख) प्रमाद अथवा ध्यान की कमी—कभी-कभी मनुष्य लापरवाही के कारण उच्चारण कुछ-का-कुछ कर जाते हैं और उसका भी कालान्तर में भाषा पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार का कथन उल्लेखनीय है कि कई लोग 'गो' के स्थान पर 'गोणी' (= बोरी) का उच्चारण कर देते थे।

(ग) जानबूझकर—कई बार ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं कि मनुष्य जानबूझकर भी शब्दों का उच्चारण भिन्न करते हैं। छोटे बच्चों के साथ बात करते समय कई बार तो स्नेहवश और कई बार बच्चों के उच्चारण का अनुकरण करने के कारण शब्दों को बिगाड़ कर बोलते हैं, उदाहरणतः 'पाँव' के स्थान पर 'पैयाँ', और 'पानी' के स्थान पर 'मानी' अथवा 'पापा' आदि शब्दों का प्रयोग बहुधा किया जाता है।

(घ) अशिक्षा—अशिक्षा के कारण व्यक्ति शब्दों का उच्चारण ठीक नहीं कर पाते। 'शनैश्चर' के स्थान पर 'सनीचर', 'मत्स्येन्द्रनाथ' के स्थान पर 'मछेन्द्रनाथ', 'गोरक्षनाथ' के स्थान पर 'गोरखनाथ' आदि बोला जाना शिक्षा के अभाव का ही द्योतक है। इसी प्रकार विदेशी शब्दों के भी अज्ञानवश अशुद्ध उच्चारण सुनने को मिलते हैं, उदाहरणतः, 'कलक्टर' के स्थान पर 'कलट्टर', 'इन्सपेक्टर' के स्थान पर 'इन्सपट्टर', 'रिपोर्ट' के स्थान पर 'रपट' आदि।

अशिक्षा के कारण ध्वनिपरिवर्तन के ही नहीं अर्थपरिवर्तन के भी उदाहरण मिलते हैं। पहले 'मृग' शब्द का अर्थ सामान्य पशु के रूप में लिया जाता था किन्तु अब इसका प्रयोग 'हिरन' के अर्थ में ही सीमित हो गया है। अशिक्षा अथवा अज्ञानवश किए गए प्रयोग जब अधिक संख्या में चल पड़ते हैं तो कालान्तर में भाषा में परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं।

(ङ) लिपिदोष—लिपि की अपूर्णता के कारण भी भाषाओं में विकार

1. भाषा का इतिहास—भगवद्दत्त

उत्पन्न हो जाता है। अनेक लिपियों में वर्णों की सम्पूर्ण यथार्थ ध्वनियों के लिए संकेत नहीं होते। अतः ध्वनियों को शुद्ध रूप में नहीं लिखा जा सकता और पढ़नेवाले उस भाषा का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण उसका उच्चारण अशुद्ध करते हैं जिससे धीरे-धीरे भाषा में विकार उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणतः, सिंह के लिए अंग्रेजी में 'सिन्हा' (Sinha) लिखा जाता है और अब 'सिन्हा' ही प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार देहली का डेल्ही (Delhi) हो गया है। इसी प्रकार के बहुत-से उदाहरण अपने देश की भाषाओं, उपभाषाओं, और बोलियों में भी मिल जाते हैं जैसे, अरबी शब्द 'साइन' का 'सायन', हिन्दी के 'शान्ति' का राजस्थानी में 'सान्ति' आदि।

२ मात्रा सुर, बलाघात का प्रभाव—जब किसी शब्द की किसी ध्वनि पर अधिक बल दिया जाता है तो वह सबल बनी रहती है किन्तु आस-पास की ध्वनियाँ दुर्बल होकर कालान्तर में समाप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, 'आभ्यन्तर' शब्द के 'भ्य' अंश पर अधिक बल देने के कारण कालान्तर में पूर्ववर्ती ध्वनि 'आ' दुर्बल होकर लुप्त हो गई और आभ्यन्तर शब्द 'भीतर' शब्द में परिवर्तित हो गया। सुरों के कारण स्वरों की प्रकृति में अन्तर पड़ जाने से शब्दों के रूप में परिवर्तन हो जाता है, जैसे बिल्व का बेल। इसी प्रकार मात्रा के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है, जैसे आकाश का अकास। इसमें दो दीर्घ ध्वनियों में से एक को ही ग्रहण किया गया है।

३ प्रयत्नलाघव—मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह कम-से-कम प्रयत्न और समय में अधिक-से-अधिक काम निकालना चाहता है। लम्बे रास्ते से बचने के लिये बीच में से होकर गई अनेक पगडंडियाँ इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं, इसी प्रकार भाषा में भी अनेक शब्द मिलते हैं जो कि संक्षिप्त कर दिए गए हैं अथवा जिन्हें मुख-सुख की दृष्टि से उच्चारण में सरल कर दिया गया है। इसके कई रूप हैं.

(क) आगम—उच्चारण के सारल्य की दृष्टि से 'स्टेशन' के स्थान पर स्वर जोड़ कर 'इस्टेशन', 'स्कूल' के स्थान पर 'इस्कूल' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(ख) लोप—'अनाज' के स्थान पर 'नाज' तथा 'अभोगी' के स्थान पर 'भोगी' शब्दों का प्रयोग भी उच्चारण के सारल्य और मुख-सुख की दृष्टि से देखने में आता है।

(ग) वर्ण-विपर्यय अथवा परस्पर विनियोग—'मतलब' का 'मतबल' तथा 'लखनऊ' का 'नखलऊ' जैसे प्रयोग अक्सर सुनने में आते हैं।

(घ) समीकरण—दो ध्वनियों के एकरूप हो जाने को समीकरण कहते हैं। 'चक्र' का 'चक्क' तथा 'भक्त' का 'भत्त' इसके उदाहरण हैं।

(ङ) विषमीकरण—जब दो समान ध्वनियों में से एक को भिन्न करके बोला जाए, जैसे 'कंकण' का 'कंगन' तथा 'काक' का 'काग' आदि।

४. सादृश्य—भाषा के विकास के कारणों में सादृश्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न भाषाओं के शब्दों का अध्ययन करने पर सादृश्यमूलक शब्दों की एक बड़ी संख्या निकल आती है, उदाहरणतः 'पाश्चात्य' के आधार पर 'पौर्वात्य', 'द्वादश' के आधार पर 'एकादश', 'स्वर्ग' के आधार पर 'नर्क' आदि। वास्तव में अज्ञान वश और बोलने में सरलता के कारण ही सादृश्यमूलक शब्दों की रचना और प्रयोग होते हैं। विशेष बात यह है कि यह बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही वर्गों में आ जाता है, इसे किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इसका भी भाषा के विकास में एक बहुत बड़ा हाथ है।

इस प्रकार अनेक बाह्य तथा आन्तरिक कारणों से भाषा में निरन्तर विकास होता रहता है पर गति अत्यन्त धीमी होती है, यहाँ तक की कई शताब्दियाँ इसमें लग जाती हैं। अधिकांशतः भाषा की गति सारल्य की ओर होती है।

भाषा की उत्पत्तिसम्बन्धी विभिन्न मत

डॉ० हरदयालु

भाषा से मनुष्य का सम्बन्ध जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त रहता है। वह उसके जीवन का अभिन्न अंग है। एक सामान्य मनुष्य को यह भी पता नहीं होता कि उसने अपनी मातृभाषा कब सीखी ? अत उसमें भाषा के प्रति जिज्ञासा की भावना प्राय बिल्कुल नहीं होती। इसीलिए जब अचानक यह प्रश्न उसके सामने आ खड़ा होता है कि भाषा कब और कैसे उत्पन्न हुई, तो उसे कोई उत्तर देते नहीं बनता। मानना होगा कि यह प्रश्न हमारे लिए स्वाभाविक है, साथ ही इसका उत्तर देना कठिन भी है। स्वाभाविक प्रश्न होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से विज्ञजनों के सामने बार-बार यह प्रश्न आता रहा है और दार्शनिक, भाषाविज्ञानी, मानवशास्त्री, एवं इतिहासज्ञ आदि इसका उत्तर खोजते रहे हैं। मनुष्य के पास आज ऐसी कोई ठोस सामग्री नहीं है, जिसके आधार पर इस प्रश्न का निश्चित और ठोस उत्तर दिया जा सके। इसीलिए अब तक भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे सब अनुमान और तर्क पर आश्रित हैं। वे हमें आत्यन्तिक, ठोस निष्कर्षों पर नहीं पहुँचाते। आधुनिक भाषाविज्ञानी इसीलिए इस प्रश्न पर विचार करना निरर्थक समझते हैं। सन् १८६६ ई० में पेरिस में स्थापित होनेवाली 'भाषाविज्ञान-परिषद्' (ला सोसियेते द लैंगिस्तीक) के संस्थापकों ने अपने नियमों में भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करने पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया था। जो लोग इस प्रश्न पर विचार करना व्यर्थ समझते हैं उनका मुख्य तर्क यह है कि चूँकि भाषाविज्ञान एक विज्ञान है, अत उसके अन्तर्गत केवल उन्हीं प्रश्नों पर विचार किया जा सकता है जिनके अध्ययन के लिए ठोस, सुनिश्चित सामग्री तथा वैज्ञानिक आधार उपलब्ध है। भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करने के लिए इस प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं। किन्तु १८६६ के बाद भी इस प्रश्न पर विचार होता रहा है, विचार होना भी चाहिए। भाषाविज्ञान का झुकाव भौतिक विज्ञानों की ओर बहुत रहा है, उसकी कुछ शाखाओं ने भौतिक विज्ञानों-जैसी सुनिश्चितता भी प्राप्त कर ली है, तथापि वह पूर्ण विज्ञान नहीं बन सका है, चाहे उसके नाम में 'विज्ञान' शब्द भले ही जुड़ा हो। फिर जब तक भाषा है तब तक उससे सम्बन्धित समूर्त प्रश्नों के उत्तर भी खोजने होंगे

जायेंगे। हो सकता है कि वे उत्तर केवल कपोलकल्पना ही सिद्ध हों। इसीलिए हम भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अब तक प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण और उनकी समीक्षा प्रस्तुत करना उचित समझते हैं।

(१) **दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त**—यह भाषा की उत्पत्ति का सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। इसके अनुसार ईश्वर ने मानव-सृष्टि के साथ ही उसके उपयोग के लिए पूर्णतः विकसित भाषा को भी उत्पन्न किया। विश्व के विभिन्न धर्मग्रन्थों, प्राचीन दर्शनों आदि में विभिन्न रूपों में इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। भारत में वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, पुराणों आदि धर्मग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। वेदों को 'अपौरुषेय' और संस्कृत को 'देववाणी' मानना इसी का द्योतक है। ऋग्वेद (८ १००-११) का यह उल्लेख कि 'देवीं वाचमजनयन्त देवाः तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति' (वाग्देवी को देवों ने पैदा किया। सभी प्राणी उसी को बोलते हैं) इसी का संकेतक है। पाणिनि के १४ प्रत्याहार सूत्रों की उत्पत्ति शिव के डमरू-निनाद से मानना भाषा की दैवी उत्पत्ति को मानना है। अनीश्वरवादी बौद्धों और जैनियों ने भी भाषा की दैवी उत्पत्ति को माना है। बौद्धों के अनुसार पाली या मागधी विश्व की आदि भाषा है। शेष भाषाएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं। यदि किसी बच्चे को कोई अन्य भाषा न सिखाई जाय तो वह स्वभावतः मागधी बोलेगा। जैन लोग अर्धमागधी को विश्व की आदि भाषा मानते हैं। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि अर्धमागधी को पशु-पक्षी तक समझते हैं। ईसाई लोग 'प्राचीन धर्म-नियम' ('ओल्ड टेस्टामेण्ट') की मूलभाषा इब्रानी (हिब्रू) को आदिभाषा तथा अन्य भाषाओं को उससे विकसित हुआ मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने आदम और हौवा को पूर्णतः इब्रानी भाषा प्रदान की थी। मनुष्य ने अपनी महत्वाकांक्षा के कारण स्वर्ग तक पहुँचने का सामूहिक प्रयत्न न किया होता तो न तो बाबुल की मीनारवाली घटना घटी होती और न ही विश्व में दिखाई देनेवाला भाषा-भेद आया होता, आदमी आज भी संसार में सर्वत्र इब्रानी ही बोलता होता। मुसलमान कुरान को 'खुदा का कलाम' कहते हैं और उसकी भाषा अरबी को विश्व की मूल भाषा मानते हैं।

भाषा की उत्पत्ति का यह दैवी सिद्धान्त आज हास्यास्पद लगता है। अब भाषा की दैवी उत्पत्ति में "धार्मिक श्रद्धालुओं" के अतिरिक्त और कोई विश्वास नहीं करता। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो निम्नलिखित आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनका कोई समाधान नहीं है :

(क) यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त होती तो प्रारम्भ से ही पूर्ण एवं विकसित होनी चाहिए थी, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है।

(ख) यदि भाषा दैवी देन है तो संसार में सर्वत्र एक ही भाषा बोली जाती, किन्तु हम जानते हैं कि संसार में हजारों भाषाएँ बोली जाती हैं।

जैसे जन्म लेते ही मनुष्य श्वास-प्रश्वास की क्रिया करने लग जाता है,

वैसे ही वह अपने साथ कोई भाषा लेकर आता है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए मिस्र के राजा सेमिटिकस, फ्रेडरिक द्वितीय (११९४-१२५० ई०), स्कॉटलैण्ड के जेम्स चतुर्थ (१४८८-१५१३ ई०), और भारत के मुगल बादशाह अकबर (१५५६-१६०५ ई०) ने बच्चे को जन्म लेते ही समाज से अलग करके भाषा-हीन वातावरण में पालने के प्रयोग किये और पाया कि बच्चा कोई भाषा लेकर नहीं जन्मता। वह भाषा को अपने चतुर्दिक् समाज से अर्जित करता है।

इस प्रकार भाषा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रश्न का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत करता।

(२) संकेत सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य अपने मनोभाव अपने आंगिक संकेतों के द्वारा व्यक्त करता था। आज भी हम अपने अंगों के संचालन के द्वारा अपनी कुछ बातें प्रकट करते हैं, किन्तु हम आंगिक संकेतों की अपूर्णता, अस्पष्टता, एवं असमर्थता को भी जानते हैं। आदि मानव ने इसे अनुभव किया होगा। इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए उसने कहीं एकत्र होकर भावों, विचारों, और वस्तुओं के नामों के सम्बन्ध में समझौता करके निर्णय किया होगा। इस प्रकार एक सांकेतिक संस्था के रूप में भाषा का जन्म हुआ होगा। इसका प्रतिपादन फ्रांसीसी विद्वान् रूसो ने किया था। बाद में पोलिनेशियन भाषा के विद्वान् डॉ० राये, रिचर्ड, आइसलैण्डिक भाषा के विद्वान् अलेक्जेण्डर जोहानसन आदि ने अधिक तर्क-सम्मत रूप में संकेत सिद्धान्त से मिलते-जुलते इंगित सिद्धान्त (gestural theory) का प्रतिपादन किया।

इस सिद्धान्त से भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या नहीं सुलझती, क्योंकि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर कई वितर्क उत्पन्न होते हैं

(क) यदि प्रारम्भ में कोई भाषा नहीं थी तो लोग किसी एक स्थान पर एकत्र कैसे हुए ? उन्होंने भाषा के निर्माण की आवश्यकता को कैसे अनुभव किया ? इस आवश्यकता के अनुभव को उन्होंने दूसरों तक कैसे पहुँचाया ? भावों और पदार्थों के लिए ध्वन्यात्मक संकेत कैसे निश्चित किये गये ? यदि यह मान लिया जाये कि पहले कोई भाषा विद्यमान थी तब नयी भाषा की आवश्यकता क्यों हुई ?

(ख) हम जानते हैं कि किसी वस्तु का अनुभव या विचार उठते ही हमारे सम्मुख उस वस्तु की प्रतिमा या बिम्ब आ उपस्थित होता है। क्या प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए संकेत निश्चित करते समय वे सब वस्तुएँ किसी एक स्थान पर एकत्र की गई थीं ? यदि हाँ तो कैसे ? अगर सभी वस्तुएँ एकत्र नहीं की गईं तो उनका नाम कैसे निश्चित किया गया ? एकत्र जनसमूह को अनुपस्थित वस्तुओं का बोध कैसे कराया गया ? आदि।

(३) अनुकरण सिद्धान्त—मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाने के लिए कुत्ते की आवाज के लिए प्रयुक्त शब्द के आधार पर इसे 'बौ-वौ सिद्धान्त' (Bow-wow theory) के नाम से पुकारा। वैसे, अंग्रेजी में इसे 'ओनोमाटोपोइक'

(Onomatopoeic) अथवा 'ईकोइक' (Echoic) सिद्धान्त कहते हैं। हिन्दी में इसके लिए 'अनुकरणमूलकतावाद' नाम भी प्रचलित है। इस सिद्धान्त को मानने वालों मे ह्विटनी, पॉल, हर्डर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने आदि काल मे अपनी अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण जड और चेतन मानवेतर पदार्थों और प्राणियो की ध्वनियों का अनुकरण करके भाषा का निर्माण किया होगा। मनुष्य ने जिस प्राणी या पदार्थ की जैसी ध्वनि सुनी होगी, उसका उसी से मिलता-जुलता नाम रख दिया होगा। अनुकरण ध्वन्यात्मक, अनुरणनात्मक, एव दृश्यात्मक तीनों प्रकार का रहा होगा। काक, कोकिल, म्याऊँ, मिमियाना, दहाडना, चिंघाडना, गुर्राना, हिनहिनाना, फटफटिया (मोटर साइकल), घुग्घू, निर्झर, मरमर, कल-कल, गडगडाहट, खट-खट, चकमक, जगमग, झलमल आदि शब्द इसी प्रकार निर्मित हुए है। जो इस सिद्धान्त को मानते है वे ऐसे ही शब्दों को अपने सिद्धान्त की स्थापना के प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करते है।

विद्वानो को यह सिद्धान्त भी आज मान्य नही है। इसके सम्बन्ध मे भी अनेक आपत्तियाँ उठाई गयी हैं, जिनमे से मुख्य इस प्रकार है .

(क) यह सिद्धान्त मान लेता है कि ध्वनियाँ उत्पन्न करने के मामले मे मनुष्य पशु-पक्षियो से भी गया बीता था। रेनन ने इसी आधार पर इस सिद्धान्त का विरोध किया है।

(ख) प्राय प्रत्येक भाषा मे उक्त प्रकार के अनुकरणमूलक शब्द अवश्य मिलते है, किन्तु वे भाषा के मुख्य अग नही है। उनकी सख्या किसी भी भाषा के शब्द-समूह मे एक प्रतिशत से अधिक नही होगी। इसी सिद्धान्त से इन एक प्रतिशत शब्दों की उत्पत्ति की समस्या का समाधान तो हो जाता है, लेकिन शेष ९९ प्रतिशत शब्दो की समस्या ज्यों की-त्यों बनी रहती है। फिर, उत्तरी अमरीका की 'अथवस्कन' जैसी कुछ भाषाएँ भी है, जिनमे इस प्रकार का एक भी शब्द नही है।

(ग) इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एक आपत्ति यह भी उठाई जाती है कि विशेष पशु-पक्षियो की ध्वनियाँ सम्पूर्ण ससार मे लगभग एक जैसी हैं, किन्तु उनके आधार पर निर्मित शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं मे भिन्न-भिन्न है—जैसे, कुत्ते के भौंकने की आवाज को हिन्दी मे भौं-भौं, अंग्रेजी मे Bow-Wow, जापानी मे wan-wan, गुजराती मे 'भस-भस' (भसवु=भौंकना) आदि कहते है, जबकि ससार भर मे कुत्ते एक ही प्रकार से भौंकते हैं। इस आपत्ति मे विशेष बल नही है। शब्दों की भाषानुसार भिन्नता अनुकरण की अपूर्णता के कारण है।

(४) आवेग सिद्धान्त (Pooh-Pooh theory)—हिन्दी मे विभिन्न भाषाविज्ञान की पुस्तकों मे इसे 'मनोभावाभिव्यञ्जकतावाद', 'मनोरागव्यञ्जकशब्दमूलकतावाद', 'आवेगवाद' आदि नामों से पुकारा गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपनी आदिम अवस्था मे क्रोध, घृणा, भय, हर्ष आदि मनोवेगों का तीव्रता के साथ अनुभव करता था, तब उन्हें प्रकट करने के लिए [illegible] । से कुछ

ध्वनियाँ निकल जाती थी। पशुओं द्वारा की जाती ऐसी आवेगव्यंजक ध्वनियाँ हम आज भी सुन सकते हैं। इन्हीं ध्वनियों से मनुष्य ने भाषा निर्मित की। इस प्रकार की ध्वनियों का शरीरवैज्ञानिक कारण होता है, जिसकी चर्चा डार्विन ने अपने एक लेख 'भावावेगों की अभिव्यंजना' में करते हुए लिखा है: "जब अनुभूति घृणा अथवा अप्रसन्नतामूलक होती है, तब हम चाहते हैं कि उसे मुँह और नथुनों से बाहर निकाल दें। इसमें 'पूह' जैसी ध्वनियाँ स्वयमेव निस्सृत हो जाती हैं। इसी प्रकार जब कोई चौंक उठता है, तब उसका मुँह खुल जाता है और फिर जब वह सिकुड़ता है तब 'ओह' या 'ओ' निकल जाता है। इसी प्रकार 'आह', 'अहा' आदि ध्वनियाँ निकलती हैं।" हिन्दी 'च् च् च्', 'वाह', 'धिक्', 'छि.' आदि ऐसे ही शब्द हैं।

यह सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति का कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता है। इसमें अनेक त्रुटियाँ है, जैसे :

(क) यह सिद्धान्त जिस प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति का पता देता है, उनकी संख्या सभी भाषाओं में उंगलियों पर गिनी जा सकती है। वे शब्द भाषा का प्रधान अंग नहीं होते बल्कि अकेले-अकेले प्रयुक्त होते हैं और वाक्य में भी उनका प्रयोग एकदम प्रारम्भ में होता है तथा वाक्य के अन्य अंगों से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

(ख) वे शब्द मनोवेगों का अपूर्ण अनुकरण ही प्रस्तुत करते है।

(ग) मनोवेगों को प्रकट करनेवाली अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनका भाषा में शब्द-रचना आदि के लिए बिलकुल प्रयोग नहीं होता। जैसे, हिन्दी की सहानुभूति-व्यंजक ध्वनि 'च् च्'।

(घ) भाषा केवल भावात्मक (आवेगात्मक) अभिव्यक्ति नहीं है। वह विचार और धारणाओं को भी व्यक्त करती है। यह सिद्धान्त भाषा के इस महत्त्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा करता है।

(ङ) बेनफी ने इस सिद्धान्त की कमजोरी का संकेत इन शब्दों में किया है 'विस्मयादि-बोधक ध्वनियों और शब्दों के बीच में इतनी बड़ी खाई होती है कि सरलतापूर्वक इन्हें भाषा का निषेध कहा जा सकता है। ये तभी निस्सृत होती हैं जब हम बोलने में असमर्थ होते हैं। कतिपय उद्गार तो ऐसे होते हैं, जिनका विश्लेषण सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त जो भाषात्मक अभिव्यक्ति इनके लिए की जाती है वह किसी प्रकार भी स्वाभाविक और प्रभावशाली नहीं होती।"

(च) यह सिद्धान्त भी भाषा पर समग्र विचार करने के स्थान पर कुछ शब्दों को ही लेकर चलता है।

(५) संगीत सिद्धान्त (Sing-song theory)—इसे डार्विन और स्पेन्सर ने कुछ रूपों में स्वीकार किया था। यस्पर्सन ने इसका विधिवत् प्रतिपादन किया। इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति मनुष्य की सहज संगीतात्मक प्रवृत्ति से हुई। यस्पर्सन ने [illegible] की प्रारम्भिक स्थिति को गद्यात्मक रूप में कल्पित

पर आधारित हो और उसकी ध्वनि और अर्थ में अनिवार्य सम्बन्ध हो ही । यदि ऐसा होता तो एक ही पदार्थ को एक ही भाषा में जल, नीर, पानी, अम्बु, तोय आदि विभिन्न शब्दों से नहीं पुकारा जाता ।

(ख) आदि मानव में धातु रचना की शक्ति की कल्पना और फिर उसके सदैव के लिए नष्ट हो जाने की मान्यता आधारहीन है ।

(ग) एकाक्षर परिवार की भाषाओं में धातु नाम की कोई चीज नहीं होती ।

(घ) धातु भाषा का सहज अंग नहीं है । धातु की धारणा तो भाषा के परवर्ती विश्लेषणात्मक अध्ययन का परिणाम है ।

(ङ) यह सिद्धान्त भाषा को पूर्ण मानता है, जबकि भाषा सदैव अपूर्ण होती है ।

(च) भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से हुआ था, वर्णात्मक शब्दों से नहीं ।

बाद में इस सिद्धान्त को स्वयं मैक्समूलर ने ही अस्वीकार कर दिया ।

(८) सम्पर्क सिद्धान्त—जी० रेवेज़ ने बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, और आदिम अविकसित मानव-मनोविज्ञान के आधार पर सम्पर्क सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है । वह अपनी आदिम अवस्था में भी छोटे-छोटे समाजों या समूहों में रहता होगा । स्वाभाविक है कि वह अपने समाज के दूसरे सदस्यों तथा अपने चतुर्दिक् के पशु-पक्षियों आदि के सम्पर्क में आया होगा । इसी सम्पर्क से भाषा उत्पन्न हुई होगी । इस सम्पर्क ने मनुष्य को सक्रिय बनाया होगा । सक्रियता ध्वनियों के रूप में प्रकट हुई होगी । इस सम्पर्क ध्वनि के भाषा के रूप में विकसित होने की तीन अवस्थाएँ रही होंगी अयाचिक चिल्लाहट, सोद्देश्य पुकार, और व्यवस्थित शब्द । सम्पर्क पहले भावात्मक रहा होगा और बाद में बौद्धिक । इसीलिए पहली अवस्था की ध्वनियाँ मनुष्य की सहजात वृत्तियों से सम्बन्धित आवेगात्मक रही होंगी । क्रमशः वे उस रूप को प्राप्त हुई होंगी जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी जैविक आवश्यकताओं की सीधी अभिव्यक्ति से भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति करने लगा होगा । रेवेज़ ने क्रियात्मकता पर विशेष बल दिया है । उनका विचार है कि प्रारम्भिक अवस्था में जो शब्द बने होंगे वे क्रिया के द्योतक रहे होंगे । इस प्रकार संज्ञा से पूर्व क्रिया, वर्णनात्मकता से पहले क्रियात्मकता जन्मी होगी ।

सम्पर्क-सिद्धान्त मनोविज्ञान की नींव पर आधारित होने के कारण अधिक तर्क सगत, प्रामाणिक, और सही प्रतीत होता है । एकबारगी लगता है जैसे भाषा की उत्पत्ति की समस्या सुलझ गई, किन्तु थोड़ा ठहरकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हम भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैसा पूर्ण और ठोस समाधान चाहते हैं वैसा समाधान यह सिद्धान्त भी प्रस्तुत नहीं कर पाता । यह भी अनुमान और कल्पना पर आधारित है । यह भी मानकर चलता है कि सृष्टि के आदि काल में मनुष्य, उसकी प्रवृत्ति, और भाषा का मौलिक रूप वैसा ही रहा है जैसा आज है । क्या

नहीं करता, वरन् मेरी मान्यता है कि यह भाने प्रारम्भिक रूप में काव्यात्मक थी। भाषा की उत्पत्ति मानवजाति के प्रणय-मन्वन्तर के समय हुई। मैं सोचता हूँ कि प्रथम वाणी निश्चय ही रात्रिकालीन प्रेम-गीतों या बुलबुल के मधुर संगीत की भाँति रही होगी।" मनुष्य ने गुनगुनाते समय जिन अर्थहीन ध्वनियों को प्राप्त किया होगा, वही सार्थक होकर भाषा बनी होंगी। यह सिद्धान्त आवेग-सिद्धान्त से मिलता-जुलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भी कल्पना पर आधारित होने के अतिरिक्त असगत है। क्या मनुष्य के आवेग केवल प्रणय तक सीमित हैं? क्या यौवन के पूर्व मनुष्य नहीं गाता? इस सिद्धान्त में भी वही त्रुटियाँ एवं एकांगिता है जो आवेग सिद्धान्त में है।

(६) श्रमपरिहरणमूलकतावाद (Yo-he-ho theory)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन न्वार (Noire) ने किया है। इसके अनुसार कठोर परिश्रम करते समय कुछ ध्वनियाँ स्वाभाविक रूप से मनुष्य उत्पन्न करता है। धोबी 'छियो-छियो', मल्लाह 'हैया-हो', सड़क कूटनेवाले मजदूर 'हे-हूँ', कुँआ खोदनेवाले 'बोईं-सा' आदि बोलते हैं। ऐसी ही ध्वनियों से भाषा बनी है। पहले मनुष्य अधिकांशतः सामूहिक रूप से श्रम करता था। अत. इस प्रकार की बहुत-सी ध्वनियाँ उत्पन्न करता था। आज ऐसी ध्वनियों की संख्या भले ही सीमित हो पर उनके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

यह सिद्धान्त भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि भाषा में इस प्रकार के शब्दों का कोई महत्त्व नहीं होता। एक अंग्रेज वकील एवं समाजशास्त्री डॉ० ए० एस० डायमंड ने एक प्रचीन भाषा 'ओर' का अध्ययन किया और उन्हें उनमें इस प्रकार की एक भी ध्वनि नहीं मिली। वास्तव में श्रम करते समय निसृत ध्वनियाँ सर्वथा निरर्थक होती है।

(७) धातु एवं अनुरणन सिद्धान्त (ding-dong theory)—अनुरणन सिद्धान्त का प्रवर्तन मूलतः प्लेटो ने किया, किन्तु उसका व्यवस्थित प्रतिपादन मैक्समूलर ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा मनुष्य की सहजात उद्भाविका प्रतिभा की उपज है। आदिम अवस्था में मनुष्य ने पदार्थों की ध्वनियों (या अनुरणन) का अनुकरण करके कुछ सौ धातु-शब्दों का निर्माण किया, जिनसे भाषा बनी। जब मनुष्य को भाषा प्राप्त हो गई तब उसकी उद्भाविका शक्ति नष्ट हो गई और वह उन्हीं धातुओं से नए-नए शब्द बनाता रहा। यह सिद्धान्त मानता है कि शब्द की ध्वनि और उसके अर्थ में एक प्रकार का रहस्यात्मक नैसर्गिक सम्बन्ध है। उसकी पुष्टि के लिए विश्व की विभिन्न भाषाओं के एक-जैसी ध्वनि और अर्थवाले शब्दों को प्रस्तुत किया जाता है।

यह सिद्धान्त भी वैज्ञानिक और तर्क-संगत नहीं है; क्योंकि :

(क) ऐसा नहीं है कि भाषा के सभी शब्द पदार्थों की ध्वनियों के अनुकरण

या अन्तर्निहित हो और शब्द और अर्थ में अनिवार्य सम्बन्ध हो ही। यदि ऐसा होता तो एक ही पदार्थ को एक ही भाषा में जल, नीर, पानी, अम्बु, तोय आदि विभिन्न शब्दों से नहीं पुकारा जाता।

(ख) आदि मानव में धातु रचना की शक्ति की कल्पना और फिर उसके सदैव के लिए नष्ट हो जाने की मान्यता आधारहीन है।

(ग) एकाक्षर परिवार की भाषाओं में धातु नाम की कोई चीज नहीं होती।

(घ) धातु भाषा का सहज अंग नहीं है। धातु की धारणा तो भाषा के परवर्ती विश्लेषणात्मक अध्ययन का परिणाम है।

(ङ) यह सिद्धान्त भाषा को पूर्ण मानता है, जबकि भाषा सदैव अपूर्ण होती है।

(च) भाषा का प्रारम्भ वाक्यों से हुआ था, वर्णात्मक शब्दों से नहीं।

बाद में इस सिद्धान्त को स्वयं मैक्समूलर ने ही अस्वीकार कर दिया।

(८) सम्पर्क सिद्धान्त—जी० रेवेज ने बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, और आदिम अविकसित मानव-मनोविज्ञान के आधार पर सम्पर्क सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आदिम अवस्था में भी छोटे-छोटे समाजों या समूहों में रहता होगा। स्वाभाविक है कि वह अपने समाज के दूसरे सदस्यों तथा अपने चतुर्दिक् के पशु-पक्षियों आदि के सम्पर्क में आया होगा। इसी सम्पर्क से भाषा उत्पन्न हुई होगी। इस सम्पर्क ने मनुष्य को सक्रिय बनाया होगा। सक्रियता ध्वनियों के रूप में प्रकट हुई होगी। इस सम्पर्क ध्वनि के भाषा के रूप में विकसित होने की तीन अवस्थाएँ रही होंगी स्वाभाविक बिलबिलाहट, सोद्देश्य पुकार, और व्यवस्थित शब्द। सम्पर्क पहले भावात्मक रहा होगा और बाद में बौद्धिक। इसीलिए पहली अवस्था की ध्वनियाँ मनुष्य की सहजात वृत्तियों से सम्बन्धित आवेगात्मक रही होंगी। क्रमशः वे उस रूप को प्राप्त हुई होंगी जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी जैविक आवश्यकताओं की सीधी अभिव्यक्ति से भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति करने लगा होगा। रेवेज ने क्रियात्मकता पर विशेष बल दिया है। उनका विचार है कि प्रारम्भिक अवस्था में जो शब्द बने होंगे वे क्रिया के द्योतक रहे होंगे। इस प्रकार संज्ञा से पूर्व क्रिया, वर्णनात्मकता से पहले क्रियात्मकता जन्मी होगी।

सम्पर्क-सिद्धान्त मनोविज्ञान की नींव पर आधारित होने के कारण अधिक तर्कसंगत, प्रामाणिक, और सही प्रतीत होता है। एकबारगी लगता है जैसे भाषा की उत्पत्ति की समस्या सुलझ गई, किन्तु थोड़ा ठहरकर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हम भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैसा पूर्ण और ठोस समाधान चाहते हैं वैसा समाधान यह सिद्धान्त भी प्रस्तुत नहीं कर पाता। यह भी अनुमान और कल्पना पर आधारित है। यह भी मानकर चलता है कि सृष्टि के आदि काल में मनुष्य, उसकी प्रवृत्ति, और भाषा का मौलिक रूप वैसा ही रहा है जैसा आज है। क्या

यह परिकल्पना नहीं है ? इसलिए कार्तिरी आदि विद्वानों का यह कहना उचित है कि रेवेज के सम्पर्क-सिद्धान्त के बावजूद भाषा की उत्पत्ति की समस्या पूर्ण हल नहीं हुई है। सम्पर्क-सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की समस्या का आंशिक हल होने में ही सफल हुआ है।

(६) समन्वित उत्पत्ति का सिद्धान्त—ऊपर जिन सिद्धान्तों का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है वे निस्सन्देह एकांगी हैं। कुछ भाषाविज्ञानियों ने इस एकांगिता से बचने के लिए एकाधिक सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत करके भाषा की उत्पत्ति का समन्वित सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। ऐसे लोगों में स्वीट का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने किसी नये सिद्धान्त की कल्पना का दावा नहीं किया है। पहले से ही प्रतिस्थापित तीन सिद्धान्तों—अनुकरणमूलकतावाद, आवेग-सिद्धान्त, तथा प्रतीक या उपचार सिद्धान्त—का समन्वय करके अपने सिद्धान्त का उन्होंने निर्माण किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा के जन्म में अनुकरण और आवेगों की अभिव्यक्ति ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। रेवेज सम्पर्क-भाषा की जिस भावात्मक अवस्था की कल्पना करते हैं, वह अनुकरण और आवेग की अवस्था का ही दूसरा रूप है। भाषा और सम्पर्क की यौगिक अवस्था प्रतीक या उपचार की अवस्था कही जा सकती है। भाषा के स्थूल और वर्णनात्मक रूप से ही उसका सूक्ष्म, लाक्षणिक, और व्यंजनात्मक रूप विकसित हुआ है। प्रत्येक भाषा में स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसित होने की प्रक्रिया उपलब्ध होती है। प्रारम्भ में 'पत्र' शब्द वृक्षों-लताओं आदि के पत्तों का स्थूल वर्णनात्मक रूप रहा होगा, किन्तु वही कालान्तर में विविध अर्थों और व्यंजनाओं से युक्त हो गया है, इससे हम सभी परिचित हैं। अनेक ध्वनियाँ किन्हीं विशेष पदार्थों, प्राणियों आदि से जुड़कर उनका प्रतीक बन गई। भाषा को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने में सादृश्य आदि ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। स्वीट ने इसके कुछ उदाहरण दिये हैं। दक्षिण अफ्रीका की भाषा 'सासुतो' में भिनभिनाने की ध्वनि के सादृश्य पर मक्खी को 'न्सी-न्सी' कहते हैं। चापलूसी करनेवाला और घूसनेवाला भी मक्खी की तरह ही अपने लक्ष्य के चतुर्दिक चक्कर काटता रहता है। अतः ऐसे व्यक्तियों को भी 'सासुतो' में 'न्सी-न्सी' कहने लगे हैं। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया के आदिम जातीय लोगों ने स्नायु के खुलने और बन्द होने के सादृश्य पर पुस्तक का नाम भी 'मूयूम' (स्नायु) रख दिया।

स्वीट का मत भी निर्दोष नहीं है। उसमें वे दोष तो हैं ही जो उसके अन्तर्गत गृहीत सिद्धान्तों में हैं। फिर भी वह सत्य का अंशतः उद्घाटन अवश्य करता है। हमारा विचार है कि भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, और नृ-तत्त्वशास्त्र आदि के क्षेत्रों में जो नई खोजें हुई हैं, यदि उनके आधार पर स्वीट के मतों का संशोधन किया जाये, तो भाषा की उत्पत्ति की समस्या का बहुत बड़ी सीमा तक समाधान हो सकता है। रेवेज का सम्पर्क-सिद्धान्त उसे अधिक तर्कसम्मत एवं प्रामाणिक रूप प्रदान कर सकता है।

भाषा की उत्पत्ति के प्रसंग में एक 'परोक्ष मार्ग' की चर्चा भी की जाती है। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने इसकी विशेष रूप से चर्चा की है। 'परोक्ष मार्ग' के अनुसार भाषा की उत्पत्ति खोजने के लिए हम उल्टी दिशा में प्रयाण करें—हम भाषा की आदिम अवस्था से उसकी विकसित अवस्था की ओर न चलकर उसकी विकसित अवस्था से उसकी आदिम अवस्था की ओर चलें। इस परोक्ष मार्ग में बच्चों की भाषा, असभ्य जातियों की भाषा, और आधुनिक भाषाओं का इतिहास सामग्री के रूप में प्रयोग में लाया जा सकता है। हमारा अपना विचार है कि इस परोक्ष मार्ग से हम अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच पाते। बच्चा भाषा विकास की जिन अवस्थाओं को कुछ महीनों या वर्षों में पार कर लेता है, उन अवस्थाओं तक पहुँचने के लिए मनुष्य नामक जीव को लाखों वर्षों की यात्रा तय करनी पड़ी है। इसलिए विकास की इस अवस्था के शिशुओं को लेकर किये जानेवाले प्रयोग हमें कहीं नहीं ले जायेंगे। असभ्य और आदिम जातियों की भाषाएँ भी विकास की बहुत अवस्थाएँ पार कर चुकी हैं। अत आधुनिक भाषाओं से प्रारम्भ करके आदिम भाषा तक पहुँचने की सभी कड़ियाँ मिलने का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए भाषा की उत्पत्ति के प्रसंग में 'परोक्ष मार्ग' की चर्चा निरर्थक है।

इस सम्पूर्ण विवरण एवं विवेचन का निष्कर्ष सिर्फ इतना ही है कि भाषा की उत्पत्ति की समस्या अब भी अनिर्णीत है, वह भाषाविज्ञानियों के लिए अब भी एक खुली चुनौती है।

संसार की भाषाओं का वर्गीकरण

डॉ० रमा दुल्लिश

आज का वैज्ञानिक युग भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये तुलनात्मक दृष्टिकोण की माँग करता है। किसी भाषा के वर्तमान स्वरूप को जानने के लिये उसके वर्तमान में प्रचलित रूप, ध्वनि, और अर्थ का ज्ञान ही पर्याप्त नही है अपितु ऐतिहासिक कालक्रमानुसार हुए उसके विकासक्रम को जानना भी आवश्यक है। इसी से किसी भाषा की गहरी पकड प्राप्त होती है। फलत. भाषाविज्ञान में ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन का सहारा लिया गया जिससे अनेक रोचक तथ्य सामने आये। उदाहरण के लिये, किसी को यह कल्पना भी न थी कि ससार की २५००से ऊपर प्रचलित भाषाओं मे आपस में कोई सबध हो सकता है पर ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप ये अनेक भाषाएँ कुछ ही वर्गों मे सिमटती दीख पडी।

इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार समय-समय पर देश, धर्म, आकृति, एव इतिहास समझा गया परन्तु वर्गीकरण की दृष्टि से देश और धर्म के आधार असगत सिद्ध हुए, देश तो इसलिये क्योंकि प्रवास के कारण देशान्तरों को जानेवाले व्यक्ति अपने साथ अपनी भाषायें भी ले जाते थे। एक देश मे इस प्रकार अनेक भाषायें बोली जाने लगीं, दूसरे यह भी आवश्यक नही कि एक देश मे बोली जानेवाली विभिन्न भाषाओ मे पारस्परिक सम्बन्ध हो। उदाहरणार्थ, संस्कृत, गुजराती, मराठी आदि भाषाएँ भारत में ही बोली जानेवाली तमिल, तेलुगु आदि दक्षिणी भाषाओ से सर्वथा भिन्न है किन्तु सुदूरवर्त्ती जर्मन, अंग्रेजी आदि से सबधित है। इसी प्रकार धर्म के बारे मे कहा जा सकता है। फलतः भाषाओ के वर्गीकरण के अब मुख्यतः दो ही आधार माने जाते है: आकृति और इतिहास।

आकृतिमूलक वर्गीकरण

भाषा की दृष्टि से आकृति का अर्थ है शब्दों की रचना अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, और उपसर्ग। इनमे से प्रकृति और प्रत्यय तो अनिवार्य ही है पर कभी-कभी उपसर्ग भी लग जाते हैं जैसे 'हृ' धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर 'हार' शब्द बनता है। इसी प्रकार प्र, अप, अनु आदि उपसर्ग लगाकर भी शब्दो की रचना होती है। विभिन्न भाषाओ मे आकृति मे समानता होने पर उन्हे एक वर्ग की मान लिया जाता है। इस आकृतिमूलक वर्गीकरण के अनेक नाम हैं, जैसे रूपात्मक, रचनात्मक, या पदात्मक। पद-रचना और वाक्य-रचना के आधार पर जो वर्गीकरण होता है उसे आकृतिमूलक

वर्गीकरण कहते हैं, अर्थात् जिन भाषाओं मे पदो या वाक्यों की रचना का ढंग एक-सा हो उनमे आकृतिमूलक साम्य रहता है और उन्हे एक वर्ग मे रखा जा सकता है। जब वर्गीकरण का आधार रूपसाम्य न होकर अर्थसाम्य होता है तो उसे पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते है।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की परम्परा पुरानी है परन्तु आधुनिक काल मे इसका श्रेय मुख्यत. श्लेगेल को जाता है। उन्होने भाषाओं को दो वर्गों मे बाँटा। बॉप ने श्लेगेल का खण्डन किया तथा तीन वर्ग बनाये। अन्य कुछ भाषाशास्त्रियो ने उन्हे और बढाने का प्रयास किया परन्तु सभी वर्गों का अन्तर्भाव दो वर्गों मे हो जाता है। मैक्समूलर ने भी भाषाओं की तीन अवस्थायें निर्धारित की हैं।[1] डा० पी० डी० गुणे ने आकृतिमूलक वर्गीकरण के चार भेद माने है ·

१. प्रत्ययप्रधान भाषाएँ (Agglutinative)
२. प्रत्यय-विभक्ति-प्रधान भाषाएँ (Agglutinative-Inflectional)
३. अयोगात्मक भाषाएँ (Isolating)
४. विभक्तिप्रधान भाषाएँ (Inflectional)

इस वर्गीकरण का आधार अर्थतत्त्व और सबन्धतत्त्व का पारस्परिक सयोग-वियोग है। भारतीय भाषाशास्त्रियो ने आकृतिमूलक वर्गीकरण को दो वर्गों मे बाँटा है.

१. अयोगात्मक
२. योगात्मक।

अयोगात्मक (Inorganic) भाषाएँ

इन भाषाओं मे प्रत्येक शब्द स्वतत्र रहता है। इनमे प्रकृति-प्रत्यय का योग नही होता। उद्देश्य और विधेय का सबन्ध स्थान और सुर के द्वारा प्रकट होता है। वर्णक्रम के अनुसार एक ही शब्द अनेकार्थक होता है, जैसे चीनी भाषा मे 'ताओ' (Tao) शब्द के पहुँचना, घाव, डरना, रास्ता आदि अनेक अर्थ हैं। 'लु' (Lu) शब्द के झडी, जवाहर, ओस, रास्ता आदि अनेक अर्थ हैं। इन भाषाओं की शब्दरचना दुरूह नही होती। ये प्रकृति-प्रधान होती हैं तथा इनमे प्रत्ययो का अभाव होता है। इनका प्रत्येक शब्द अव्यय की भाँति एकरूप रहता है। इनमें कोई व्याकरणसम्बन्धी विभाग भी सभव नही। अयोगात्मक शब्दक्रम के साथ-साथ इनमें सुर या लहजे का भी महत्त्व है। अयोगात्मक भाषाओं का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषा है। पूर्वी व मध्य एशिया की मलय, स्यामी, बर्मी, स्यामी, एव तिब्बती आदि भाषाएँ इसी वर्ग मे आती है। जैसा कि कहा जा चुका है इन भाषाओं मे स्थान, निपात, और सुर का महत्त्व है। इन्ही के आधार पर अर्थपरिवर्तन होता है।

स्थान — वाक्य मे एक ही शब्द स्थान प्रयोगानुसार सज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि

---

1. The Science of Language, Page 29[illegible]

[illegible] में एक ही प्रकृति के विभिन्न प्रत्ययों के योग से होनेवाला अर्थभेद स्पष्ट है।

श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व कहीं अर्थतत्त्व से पहले जुड़ता है, कहीं अन्त में, कहीं मध्य में, और कहीं पहले और अन्त दोनों में एक साथ। बंटू परिवार की काफिर और जुलू भाषाओं में पूर्वयोग के उदाहरण मिलते हैं। जुलू का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। काफिर से एक उदाहरण द्रष्टव्य है

नि — हम }
नि = उन } कु - के लिए, को

कुनि = हमको

कुनि = उनको

पूर्वयोग के उदाहरण संस्कृत में भी मिल जाते हैं, जैसे—

गच्छति = जाता है   अवगच्छति = जानता है।

मध्ययोग के उदाहरणस्वरूप संथाली या फिलिपीन की टगलॉग भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। संथाली में

मझि = मुखिया
प = बहुवचनद्योतक प्रत्यय } मपझि = मुखियागण

टगलॉग में 'सुलत्' = लेख, 'सुमुलत्' = लिखनेवाला।

अन्त्य योग की प्रवृत्ति यूराल, अल्ताई, और द्रविड परिवार की भाषाओं में मिलती है। अल्ताई परिवार की तुर्की भाषा से ऊपर उदाहरण दिए जा चुके हैं। दक्षिण भारत की द्रविड भाषाएँ भी इसी वर्ग में आती हैं।

पूर्वान्तयोग की प्रवृत्तिवाली भाषाओं में प्रत्यय अर्थतत्त्व के पहले और बाद दोनों स्थानों पर जुड़ते हैं। न्यू गिनी की मफोर भाषा से निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है—

स्नफ = सुनना	उ = तू	इ = वह
ज = मैं	मि = वे	

ज-स्नफ-उ = मैं तेरी बात सुनता हूँ।
मि-स्नफ-इ = वे उसकी बात सुनते हैं।

हो सकता है, जैसे चीनी में 'ङो ता नि' का अर्थ है 'मैं तुम्हें मारता हूँ' पर ङो का स्थान बदलने पर 'नि ता ङो' का अर्थ होगा 'तुम मुझे मारते हो।'

निपात—निपात से आशय इन भाषाओं के ऐसे शब्दों से है जो कई स्वतन्त्र अर्थ बताने के साथ साथ सम्बन्धतत्त्व के द्योतक हुए गौण अर्थ भी बताते हैं, उदाहरणार्थ, 'ची' एक निपात है जो 'जाना, घर, सरक्षण रखना' आदि कई स्वतन्त्र रखने के साथ-साथ सम्बन्धसूचक 'का' अर्थ भी बताता है। चीनी में 'वाङ पाओ मिन' का अर्थ है 'राजा प्रजा की रक्षा करता है', पर यदि इसमें 'ची' निपात जोड़कर 'वाङ ची पाओ मिन' कर दिया जाए तो अर्थ होगा 'राजा द्वारा रक्षित प्रजा।'

सुर—सुर या स्वर (tone) के भेद से भी अर्थ बदल जाता है। उदाहरण के लिए, यदि 'फेई' के 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वर में किया जाए तो अर्थ होगा 'दुष्ट' और यदि इसे अनुदात्त स्वर में बोला जाए तो अर्थ होगा 'सम्मान्य' या 'विशिष्ट'।

अयोगात्मक भाषाओं को व्यासप्रधान, निरवयव, निरिन्द्रिय, निपातप्रधान, एकाक्षर, एकाच्, धातुप्रधान, निर्योग आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

योगात्मक या सावयव (Organic) भाषाएँ

इन भाषाओं में अयोगात्मक भाषाओं के विपरीत अर्थतत्त्व या प्रकृति (=प्रातिपदिक या धातु) और सम्बन्धतत्त्व (प्रत्यय) के योग से शब्दों की रचना होती है। फलतः इन भाषाओं के शब्दों का रूप अयोगात्मक भाषाओं के शब्दों के समान सदा एक सा न रहकर प्रकृति-प्रत्यय भेद से बदलता रहता है। उदाहरण के लिए, 'पुस्तकं पठि कृष्णेन' वाक्य के पदों में प्रकृति-प्रत्यय का योग निम्न प्रकार है :

प्रकृति	प्रत्यय
पुस्तक	अम्
पठ्	इ, तम्
कृष्ण	एन

संसार में योगात्मक भाषाओं की संख्या अयोगात्मक की अपेक्षा कहीं अधिक है।

योगात्मक भाषाओं को प्रकृति-प्रत्यय-योग के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(१) अश्लिष्ट योगात्मक (प्रत्ययप्रधान)
(२) श्लिष्ट योगात्मक (विभक्तिप्रधान)
(३) प्रश्लिष्ट योगात्मक (समासप्रधान)

अश्लिष्ट योगात्मक

इस वर्ग की भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ प्रत्यय का योग होता है पर व योग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। विभिन्न प्रत्ययों के योग से शब्दों का अर्थ बदलत रहता है। उदाहरणार्थ, जुलू भाषा में 'न्तु' (=आदमी) संज्ञा एवं 'चिल' (=सुन्दर

है पर कहीं-कहीं प्रश्लिष्ट योगात्मक जैसे रूप भी उसमें मिल जाते हैं, अतः प्रश्लिष्ट योगात्मक को समझाने के लिए उसमें एक उदाहरण दिया जाता है—**तैरभिप्रेतार्थसाधनेऽभिनव कौशलप्रदर्शनङ् कृतमासीत्** ।

प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के दो भेद हैं : (१) पूर्णतः प्रश्लिष्ट, (२) अंशतः प्रश्लिष्ट ।

पूर्णतः प्रश्लिष्ट भाषाओं में सारे ही अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व पूर्णतः अविभाज्य रूप में घुले-मिले रहते हैं, उदाहरणार्थ, 'ग्रीनलैण्ड की भाषा में 'अउलिसरिअर्तोरसुअर्पोक' का अर्थ है 'वह मछली मारने को जाने की जल्दी करता है' । इस वाक्य का शब्दों में विभाजन संभव नहीं, क्योंकि शब्द वहाँ अलग से प्रयुक्त ही नहीं होते । इससे स्पष्ट है कि इस वर्ग की भाषाओं में पूरा वाक्य एक लम्बे शब्द-जैसा प्रतीत होता है। ऐसे वाक्यों को वाक्य-शब्द (sentence-word) अर्थात् 'शब्द-जैसे प्रतीत होने वाले वाक्य, कहते हैं ।

अंशतः प्रश्लिष्ट भाषाओं में क्रिया सदा सर्वनाम से मिश्रित रहती है, उसका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं होता । उदाहरणार्थ, बास्क भाषा में निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

दकार्कियोत् = मैं इसे उसके पास ले जाता हूँ ।
नकासुं = तू मुझे ले जाता है ।
हकार्त् = मैं तुझे ले जाता हूँ ।

उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में यद्यपि 'ले जाने' का भाव समान रूप में विद्यमान है पर इसकी द्योतक क्रिया नहीं दीख पड़ती, वह सर्वनाम से संयुक्त होकर ही आई है । इस प्रकार की भाषाओं को अंशतः समासप्रधान कहने का कारण यह है कि इनमें केवल क्रिया और सर्वनाम का ही योग रहता है, संज्ञा, विशेषण आदि अन्य तत्त्वों का नहीं । दूसरी ओर पूर्णतः समासप्रधान में सभी का योग रहता है ।

आकृतिमूलक वर्गीकरण की समीक्षा—इस वर्गीकरण की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत कम है । फिर यह वैज्ञानिक भी नहीं है, क्योंकि संसार की हजारों भाषाओं को केवल चार वर्गों में समेट देना उचित नहीं । इसमें विश्व की भाषाओं का सम्यक् विभाजन नहीं हो पाया है । साथ ही इसके कारण किसी भी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध न रखनेवाली भाषाएँ भी एक वर्ग में रख दी गई हैं, जैसे, अयोगात्मक भाषाओं के अन्तर्गत एक ओर चीनी, तिब्बती, बर्मी आदि आती हैं तो दूसरी ओर सुदूर अफ्रीका की सूडानी भाषा भी है । यहीं हाल अन्य वर्गों का भी दीख पड़ता है।

इसके अतिरिक्त एक ही भाषा में एक से अधिक वर्गों के लक्षण भी मिल जाते हैं, अर्थात् एक ही भाषा अश्लिष्ट, श्लिष्ट, और प्रश्लिष्ट के लक्षणों से युक्त मिल जाती है । उदाहरणार्थ, संस्कृत यद्यपि श्लिष्ट है पर उसमें प्रश्लिष्ट और अश्लिष्ट भाषाओं के लक्षण भी मिल जाते हैं । प्रश्लिष्ट का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है ।

श्लिष्ट योगात्मक

इन भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व के मिलने से अर्थतत्त्व में विकार उत्पन्न [हो] जाता है। इस दृष्टि से अश्लिष्ट योगात्मक (या प्रत्ययप्रधान) भाषाओं से इनका भेद [है] क्योंकि अश्लिष्ट योगात्मक में प्रकृति सदा एकरूप (या अविकृत) रहती है, केवल प्र[त्यय] ही बदलते रहते हैं, किन्तु इन भाषाओं में प्रत्यय (या विभक्ति) के योग से प्र[कृति] भी विकृत हो जाती है, उदाहरणार्थ, 'गुरु' शब्द के चतुर्थी, पंचमी, और ष[ष्ठी] एकवचन के रूप हैं क्रमश: गुरवे, गुरो, गुरो। स्पष्टतः ही यहाँ विभक्तियों के [योग] से प्रकृति में उत्पन्न विकार देखा जा सकता है।

विभक्तियाँ अन्तर्मुखी हैं या बहिर्मुखी—इस आधार पर श्लिष्ट योगात्मक भाषाओं के दो वर्ग हैं (१) अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान, (२) बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान। जिन भाषाओं में विभक्ति अर्थतत्त्व (या प्रकृति) के अन्दर ही जुड़ती है उन्हें अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान और जिनमें बाहर से जुड़ती है उन्हें बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान कहते हैं। इन दोनों वर्गों के भी संहित या संयोगात्मक (synthetic) और व्यवहित या वियोगात्मक (analytic) के भेद से दो-दो उपवर्ग बनते हैं। [illegible] क्रमशः इन पर विचार किया जाता है।

अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान—सामी (अरबी, हिब्रू) और हामी (प्राचीन मिस्री आदि) परिवार की भाषाएँ इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इन भाषाओं में विभक्ति अर्थतत्त्व के अन्दर जुड़ती है, उदाहरणार्थ, अरबी 'क़ृत्ल्' धातु का अर्थ है 'मारना'। इसमें अन्तर्मुखी विभक्तियों के योग से विभिन्न रूप निष्पन्न होते हैं, जैसे क़त्ल=वध, क़ातिल=वध करनेवाला, क़िल्त=शत्रु, क़ितल=प्रहार आदि। अन्तर्मुखी विभक्तिप्रधान वर्ग की भाषाओं की धातु प्रायः त्रैवर्णिक (तीन व्यञ्जनोंवाली) होती है और प्रत्यय प्रायः स्वर होते हैं।

इस वर्ग की भाषाओं में संहित का उदाहरण है अरबी और व्यवहित का हिब्रू।

बहिर्मुखी विभक्तिप्रधान—इस वर्ग के अन्तर्गत भारोपीय परिवार की भाषाएँ आती हैं। इनमें प्रत्यय बाहर से जुड़कर प्रकृति में विकार उत्पन्न करते हैं। ऊपर संस्कृत से 'गुरु' शब्द का उदाहरण दिया जा चुका है।

इस वर्ग में संहित का उदाहरण है संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि प्राचीन भाषाएँ, तथा व्यवहित का उदाहरण है हिन्दी, बंगला, गुजराती, अंग्रेज़ी आदि आधुनिक भाषाएँ। [illegible] इन भाषाओं की प्रवृत्ति वियोग की ओर है [illegible] के कारण वियोगात्मक [illegible] है।

प्रश्लिष्ट योगात्मक

[illegible]

नम्बर, शैम्पो, टेलीफोन आदि. (४) विशेष कलाओं और विचारों से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली, जिसका ज्ञान उस-उस विषय के पण्डितों को ही होता है।

उपर्युक्त चार प्रकार के शब्दों में से प्राय: पहले को ही भाषाओं की तुलना के लिए चुनना चाहिए क्योंकि इनमें दूसरी भाषाओं से उधार लिए शब्दों की संख्या प्राय: नगण्य होती है। इनमें भी क्रियाएँ, सर्वनाम, सम्बन्धवाचक शब्द, और संख्यावाचक विशेषण सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। उदाहरणार्थ, निम्न शब्दों की तुलना से भारोपीय परिवार की भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का पता चलता है :

संस्कृत	लैटिन	फारसी	अँग्रेजी	जर्मन
पितृ	पातेर	पिदर	फादर	फातेर
मातृ	मातेर	मादर	मदर	मुत्तेर

शब्दों की समानता ध्वनि-नियमों के आधार पर जाँचनी चाहिए न कि बाह्य रूप-साम्य के आधार पर। ध्वनि-नियमों के आधार पर जिन शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध होता है वे ही परस्पर- सम्बद्ध माने जाएँगे, अन्य नहीं। तुलना में ध्वनि-साम्य के साथ-साथ अर्थसाम्य भी देखना चाहिए।

व्याकरण की समानता—शब्दों की समानता के बाद व्याकरण की समानता पर विचार करना चाहिए। सगोत्री भाषाओं के व्याकरण और रचना-तत्त्व प्राय: समान होते हैं, चाहे बाहरी तौर पर कितनी भी भिन्नता दीख पड़े। व्याकरण की दृष्टि से समानता तीन बातों की देखी जाती है (१) धातुओं से शब्द बनाने की पद्धति, (२) मूलशब्दों में प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाने की पद्धति, और (३) वाक्य-रचना-पद्धति।

ध्वनियों की समानता – व्याकरण की समानता से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है ध्वनि-साम्य। प्रत्येक भाषा अपनी ध्वनियों की रक्षा बड़ी दृढ़ता से करती है और जल्दी दूसरी भाषा से प्रभावित नहीं होती। अत: यदि किन्हीं भाषाओं में ध्वनि-साम्य दीख पड़े (जिसका आधार ध्वनि-नियम होने चाहिए) तो उन भाषाओं को सगोत्री (अर्थात् एक परिवार की) मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार "पारिवारिक सम्बन्ध के लिए प्राय: स्थानिक समीपता से विचार उठता है, शब्दों की समानता से विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार बादम्य हो जाता है, और यदि ध्वनि-साम्य भी निश्चित हो जाए तो सम्बन्ध पूरी तरह निश्चयकोटि को पहुँच जाता है। यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो तो विचार विचार-कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता"।[1]

पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पारिवारिक वर्गीकरण के लिए बड़ी सावधानी और गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। इस अध्ययन में तुलना और इतिहास का सहारा लिया जाता है, साथ ही शब्दसमूह, व्याकरण, और ध्वनि की समानता के आधार पर पारिवारिक सम्बन्ध निश्चित किया

१ सामान्य भाषाविज्ञान – डॉ० बाबूराम सक्सेना

अश्लिष्ट के लिए सु-जन-ता, अ-परि-पक्व-ता आदि शब्द देखे जा सकते हैं। दूसरे ओर संसार की भाषाओं की संरचना (structure) को समझने की दृष्टि से यह वर्गीकरण उपयोगी है।

पारिवारिक वर्गीकरण

भाषाओं के लिए परिवार शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। किसी मूलभाषा को जननी और उससे विकसित होनेवाली भाषाओं को उसकी पुत्रियाँ मान लिया जाता है। ये पुत्रियाँ आपस में बहिनें कहलाती हैं। ऐसा भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने की सुविधा के लिए किया जाता है। किन्तु यह बात स्पष्टतः समझ लेनी चाहिए कि परिवार में माता और पुत्रियाँ एक ही समय में विद्यमान रह सकती हैं पर भाषाओं के विषय में ऐसा सम्भव नहीं क्योंकि एक ही मूलभाषा कालान्तर में विकसित होती हुई अन्य भाषाओं का रूप धारण कर लेती है, इसलिए मूलभाषा और उससे विकसित होनेवाली भाषाएँ समकालिक नहीं हो सकतीं। उदाहरण के लिए, वैदिक संस्कृत ही विकसित होती हुई कालान्तर में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में परिवर्तित हो गई।

इस वर्गीकरण को ऐतिहासिक भी कहते हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण का आधार

भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण के छह आधार हो सकते हैं : ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना, अर्थसाम्य, शब्दभाण्डार, और स्थानिक निकटता। कुछ विद्वान् वर्गीकरण के चार ही आधार मानते हैं : रचना की समानता, व्युत्पत्ति, शब्दसमूह, तथा ध्वनिसमूह। पर साधारणतः निम्नलिखित तीन आधार अधिकांश विद्वानों को मान्य हैं

(१) व्याकरण की समानता
(२) शब्दों की समानता
(३) ध्वनियों की समानता

(५) हित्ती
(६) तुखारी
सप्तम् वर्ग : (१) अल्बानी
(२) बाल्टी-स्लावी
(३) आर्मीनी
(४) आर्य या हिन्द-ईरानी

(२) सामी-हामी—सामी के अन्तर्गत मुख्यत अरबी और हिब्रू भाषाएँ आती हैं और हामी के अन्तर्गत प्राचीन मिस्री तथा आधुनिक लीबियाई, इथियोपियाई आदि भाषाएँ। अरबी बहुत समृद्ध भाषा है। हिब्रू मे बाइबिल (Old Testament) लिखी होने के अतिरिक्त वर्तमान इज़रायल राज्य के निर्माण से उसको बहुत बल मिला है।

(३) यूराल-अल्ताई—यूराल मे फिनलैण्ड की फिनी, एस्थोनिया की एस्थोनी, लैपलैण्ड की लाप, तथा हगरी की मग्यार भाषाएँ आती हैं। अल्ताई के तीन विभाग है—तुर्क-तातार, मगोल, एव मचू। यूराल वर्ग मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषा मग्यार है, और अल्ताई वर्ग मे तुर्की। ये भाषाएँ प्रत्ययसयोगी (अश्लिष्ट सयोगात्मक) है।

(४) काकेशी—इस वर्ग की भाषाएँ काले सागर और कैस्पियन सागर के बीच स्थित काकेशस पर्वतशृखला मे प्रचलित हैं। इस वर्ग की सबसे प्रधान भाषा ज्योर्जी (Georgian) है जो स्तालिन की मातृभाषा थी।

(५) तिब्बती-चीनी—इसके अन्तर्गत चीनी, स्यामी, तिब्बती, तथा बर्मी आदि भाषाएँ आती है। इस वर्ग की भाषाएँ अयोगात्मक है।

(६) द्रविड—इस परिवार की समस्त भाषाओ और बोलियो की सख्या १४ है जिनमे चार (तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम) मुख्य हैं। ये सभी भाषाएँ बहुत विकसित एव साहित्यसम्पन्न है। इसी परिवार के अन्तर्गत बलूचिस्तान के मध्य एक छोटे भूभाग मे बोली जानेवाली ब्राहुई (Brahui) नामक बोली भी आती है।

(७) प्रशान्त महासागर भाषाचक्र—इसके अन्तर्गत प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर मे स्थित द्वीपो की भाषाएँ आती है। इन्हे निम्न शाखाओ मे बाँटा जा सकता है

(क) आग्नेय (या ऑस्ट्रिक)
(ख) पापुआई
(ग) ऑस्ट्रेलियाई
(घ) तस्मानी

इस वर्ग की सर्वाधिक उल्लेख्य भाषाएँ हैं: मुण्डा, मलय (या इण्डोनेशियाई), कवि (जावा की भाषा), तगालॉग (फिलिप्पीन की भाषा) आदि।

(८) अफ्रीकी नीग्रो भाषासमूह—ये भाषाएँ मध्य और दक्षिणी अफ्रीका के अधिकाश भाग मे फैली हुई है। इनके मुख्यत तीन वर्ग है - (१) सूडानी, (२)

जाता है। इसके अतिरिक्त आकृतिमूलक वर्गीकरण में केवल सम्बन्धतत्त्व की समानता देखी जाती है जबकि इसमें सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों के साम्य की खोज की जाती है। स्वभावतः ही यह वर्गीकरण आकृतिमूलक वर्गीकरण की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक है।

संसार की भाषाओं के विभिन्न वर्ग

विश्व की समस्त भाषाओं को विभिन्न परिवारों में बाँटा गया है। फ्रेडरिक मूलर आदि विद्वानों का मत है कि सारी भाषाओं को १०० परिवारों में बाँटा जा सकता है। कुछ विद्वान् इस संख्या को और भी बढ़ाने के पक्ष में हैं। वस्तुतः संसार की अनेक भाषाओं का अभी सूक्ष्म अध्ययन नहीं हो पाया है, इसलिए उन्हें निर्विवाद रूप से किन्हीं भाषापरिवारों में रखना संभव नहीं हो सका है। कुछ भाषाविज्ञानियों ने अध्ययन की सुविधा के लिए भौगोलिक आधार पर विश्व की भाषाओं को चार खण्डों में विभाजित किया है। इस प्रकार भाषापरिवारों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद मिलता है। कुछ ने उन्हें यदि १२ कुलों में बाँटा है, तो कुछ ने १८ में, और कुछ अन्य ने ११ या १३ में। आपेक्षिक महत्त्व की दृष्टि से प्रमुख निम्नलिखित ११ परिवार माने जा सकते हैं :

भारोपीय कुल—इसके अन्तर्गत उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान, और यूरोप की समस्त भाषाएँ आती हैं। इस परिवार की भाषाएँ संस्कृति, साहित्य, और राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं।

इन भाषाओं को शतम् और केन्तुम् इन दो वर्गों में बाँटा गया है। यह वर्गीकरण अस्कोली नामक विद्वान् ने सन् १८७० में सुझाया था। 'केन्तुम्' लैटिन का शब्द है और 'शतम्' संस्कृत का। दोनों का अर्थ 'सौ' है। इस वर्गीकरण का आधार यह है कि मूल भारोपीय भाषा की तीन प्रकार की कवर्ग ध्वनियों में से कण्ठ्य-तालव्य कवर्ग ध्वनियाँ किन्हीं भाषाओं में कवर्ग (क्) के रूप में ही मिलती हैं और कुछ अन्य में ऊष्म (श् स्) के रूप में—जिन भाषाओं में वे 'क्' के रूप में मिलती हैं वे केन्तुम् वर्ग की और जिनमें 'श् स्' के रूप में मिलती हैं वे शतम् वर्ग की कहलाईं। पहले यह समझा जाता था कि केन्तुम् वर्ग के अन्तर्गत पश्चिम की और शतम् के अन्तर्गत पूर्व की भाषाएँ आती हैं, किन्तु एशिया माइनर में हित्ती, तथा चिनियाग में तुखारी भाषाओं की खोज ने यह धारणा बदल दी है क्योंकि ये भाषाएँ पूरब की होते हुए भी केन्तुम् वर्ग की हैं। इन दोनों वर्गों के अन्तर्गत निम्न शाखाएँ आती हैं :

केन्तुम् वर्ग : (१) जर्मनिक या ट्यूटानिक
(२) इटैलिक या रोमान्स
(३) केल्टिक
(४) ग्रीक

ध्वनिविचार

प्रो० जगदीशनारायण बंसल

'ध्वनिविज्ञान' भाषाविज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। भाषा का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसका अध्ययन 'ध्वनिविज्ञान' के अभाव में वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का तो 'ध्वनिविज्ञान' के अभाव में अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् जार्ज सैम्पसन (George Sampson) ने उचित ही कहा है, "ध्वनिविज्ञान से अनभिज्ञ भाषा-शिक्षक वैसे ही निरर्थक है जैसे शरीर-रचना-विज्ञान से अनभिज्ञ चिकित्सक"।

'ध्वनिविज्ञान' भाषाविज्ञान का वह भाग है जिसके अन्तर्गत 'ध्वनि' का अध्ययन होता है, अर्थात् ध्वनि किस प्रकार उत्पन्न होती है, ध्वनि-यन्त्र के प्रमुख अवयव कौन-कौन-से हैं और ध्वनि-उत्पादन में उनका क्या महत्त्व है, ध्वनियों का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जाता है, ध्वनियाँ किस दिशा में क्यों परिवर्तित होती हैं आदि बातें ध्वनिविज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में आती हैं। इस प्रकार ध्वनिविज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

'ध्वनि' का अर्थ

सामान्यतया 'ध्वनि' का अर्थ किसी वस्तु से किसी भी प्रकार की कोई आवाज उत्पन्न होना माना जाता है। इस अर्थ के अनुसार मेढक के पानी में कूदने से जो 'छप्' की आवाज हुई वह भी ध्वनि है और किसी के सिर पर दड-प्रहार करने से जो 'खटाक' की आवाज हुई वह भी। इस प्रकार सामान्य अर्थ की दृष्टि से 'ध्वनि' का क्षेत्र बहुत व्यापक है, परन्तु भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' को इतने विस्तृत अर्थ में नहीं लिया जाता। भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' के अन्तर्गत केवल मनुष्य के मुख से निस्सृत आवाज का ही समावेश किया जाता है, मनुष्येतर प्राणियों द्वारा उत्पादित आवाज अथवा जड पदार्थों के किसी वस्तु या प्राणी के सम्पर्क में आने से उत्पन्न होनेवाली आवाज को 'ध्वनि' में सम्मिलित नहीं किया जाता। 'ध्वनि' के भाषा-वैज्ञानिक अर्थ में केवल 'व्यक्त वाक्' ही आ पाती है, 'अव्यक्त वाक्' नहीं, क्योंकि भाषा का मुख्य उद्देश्य विचार-विनिमय कराना है जो 'व्यक्त वाक्' द्वारा ही पूरा हो सकता है। 'अव्यक्त वाक्' के समान 'लिखित भाषा' भी 'ध्वनि' के अध्ययन-क्षेत्र से बाहर है।

भाषाविज्ञान में 'ध्वनि' का ग्रहण जिस अर्थ में होता है उसका 'ध्वनि' के सामान्य अर्थ से पृथक्करण करने के लिए उसे 'भाषण-ध्वनि' या 'भाषा-ध्वनि' (भाषा की ध्वनि) कहते हैं अर्थात् सामान्य ध्वनियों (अव्यक्त वाक् आदि) से भाषा में प्रयुक्त

बन्तू, और (३) बुशमैन। सूडानी भाषावर्ग की सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है नाइजीरिया की हाउसा (Hausa) जो समस्त मध्य अफ्रीका की सामान्य भाषा (Lingua franca) मानी जाती है। बन्तू भाषावर्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जंजीबार की स्वाहिली (Swahili) है जो अफ्रीका के पूर्वी तट की सामान्य भाषा है। बुशमैन भाषावर्ग में होतेन्तोत (Hottentot) अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस भाषावर्ग में क्लिक ध्वनियाँ (Clicks) पाई जाती हैं।

(९) अमरीकी आदिवासियों की भाषाएँ—ये भाषाएँ उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के आदिवासियों द्वारा बोली जाती है। इन भाषाओं की संख्या १००० से ऊपर बताई जाती है। कई भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या कुछ सौ से अधिक नहीं। इन भाषाओं का सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाया है अत उनका वर्गीकरण सम्भव नहीं। भौगोलिक दृष्टि से इन भाषाओं के तीन मुख्य विभाग हैं:

(क) कनाडा और संयुक्त राज्य—अथपस्की, अलगोनकी, होका, यूटोअजटेक, सिउई। इनमें प्रथम दो भाषाएँ मुख्य है।

(ख) मेक्सिको और मध्य अमरीका—अजतेक, मय, नहुअत्ल। अजतेक मेक्सिको की प्राचीन भाषा है। मध्य अमरीका की दूसरी प्रमुख भाषा मय है। किसी समय मय संस्कृति बड़ी उन्नत थी।

(ग) दक्षिण अमरीका—अरवक, चिब्चा, तुपी-गुअर्नी, करीब, कुइचुआ। इनमें अरवक (Arawak) प्रधान है। कुइचुआ (Quichua) किसी समय एक महान् और सुसभ्य जाति की भाषा थी।

(१०) एस्किमो वर्ग—ये उत्तरी ध्रुव महासागर (Arctic Ocean) के तट पर बसे एस्किमो लोगों एवं अन्य जातियों की भाषाएं है। इनकी दो शाखाएं है (१) एस्किमो, (२) अल्यूशियन। एस्किमो शाखा में ग्रीनलैंड की बोली प्रधान है।

(११) अवर्गीकृत भाषाएँ—इसके अन्तर्गत अनेक प्राचीन भाषाएँ (जैसे क्रीटी, सुमेरी, मितन्नी, एत्रुस्कन आदि) तथा नवीन भाषाएँ (जैसे जापानी, कोरियाई, हाइपरबोरी, अण्डमनी, बास्क आदि) आती है। अधिक अध्ययन के बाद कदाचित् इन भाषाओं को सुनिश्चित वर्गों में रखना सम्भव हो सकेगा।

ध्वनि किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

जिन अंगो या अवयवो से भाषा-ध्वनि का उच्चारण होता है उन्हें वागयन्त्र, ध्वनि-यन्त्र, या उच्चारणावयव कहते हैं।

ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया पर पाणिनीय शिक्षा मे बड़ा सुन्दर विवेचन मिलता है :

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
....
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभाग पंचधा स्मृतः ॥"

—पाणिनीय शिक्षा, ६/६

[बुद्धि के साथ आत्मा अर्थो (वस्तुओं) को देखकर बोलने की इच्छा से मन को प्रेरित करती है, मन शारीरिक शक्ति पर दबाव डालता है जिससे वायु मे प्रेरणा *उत्पन्न होती है, प्रेरित वायु (श्वास वायु) फेफड़े मे चलती हुई कोमल ध्वनि को* उत्पन्न करती है, फिर बाहर की ओर जाकर और मुख के उपरिभाग मे अवरुद्ध होकर वह वायु मुख मे पहुँचती है और पचधा विभक्त ध्वनियों को उत्पन्न करती है।]

उक्त पाणिनीय शिक्षा मे यह स्पष्ट किया गया है कि मानसिक प्रत्यय (concept) किस प्रकार ध्वनि के रूप मे अभिव्यक्त होता है। यहाँ ध्वनि की उत्पत्ति के लिए आत्मा, बुद्धि, मन, और वायु को आवश्यक माना गया है। बाहर निकलती हुई वायु ही 'ध्वनि' उत्पन्न करती है। जिस समय हम मौन रहते हैं उस समय फेफड़ो मे आनेवाली वायु चुपचाप मुख-मार्ग या नासिका-मार्ग से बाहर निकल जाती है, किन्तु जब हम बोलते हैं तब यही बाहर निकलती हुई वायु 'ध्वनि-यन्त्र' के विभिन्न अंगों की सहायता से 'ध्वनि' उत्पन्न करती है।

फेफड़ो से बाहर निकलनेवाली वायु स्वर-यन्त्र तक पहुँचने से पहले केवल 'साँस' रहती है और उसमे पहला विकार स्वर-यन्त्र मे ही होता है। स्वर-यन्त्र मे 'साँस' को 'ध्वनि' बनाने के कार्य का श्रीगणेश दो स्वर-तन्त्रियाँ करती हैं। स्वर-यन्त्र का सारा महत्त्व इन्ही स्वर-तन्त्रियो के कारण है। इन दोनो स्वर-तन्त्रियों के बीच मे कुछ अवकाश रहता है (जिसे काकल अथवा स्वर-यन्त्र मुख कहते हैं) और वह कम या अधिक होता रहता है। साँस छोड़ने समय या बोलते समय वायु इसी स्वर-यन्त्र-मुख मे होकर बाहर निकलती है। बोलते समय स्वर-तन्त्रियो के समीप रहने या दूर हटने से ध्वनि मे अन्तर उत्पन्न हो जाता है। स्वर का ऊँचा या नीचा होना भी इसी बात पर निर्भर रहता है कि स्वरतन्त्रियाँ कितनी कम या अधिक टकराती है। स्वरतन्त्रियों की सबसे साम्य की दशा वह होती है जब हम बिना बोले साँस लेते और छोड़ते हैं। जिस समय हम

ध्वनि को अलग करने के लिए उसे 'भाषा-ध्वनि' की संज्ञा दे दी गई है और भाषा में प्रयुक्त ध्वनि के जितने भी भेद-प्रभेद होंगे वे 'भाषा-ध्वनि' के ही अन्तर्गत आयेंगे।

संध्वनि और ध्वनिग्राम

जब कोई वर्ण विभिन्न शब्दों में प्रयुक्त होता है तो उच्चारण-स्थान की दृष्टि से उसके अनेक सूक्ष्म भेद हो जाते हैं, जो यद्यपि सुननेवाले को अनुभव नहीं होते और वह उन सबको एक समान ही समझता है किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें महान् अन्तर होता है। व्यावहारिक दृष्टि से तो उस वर्ण के सभी भेदों के लिए प्रायः एक ही संकेत या चिह्न प्रयुक्त होता है, जैसे 'बाल्टा', 'हल्दी', और 'लू' में एक ही चिह्न 'ल्' है परन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से 'बाल्टा' का 'ल्' ईषत् मूर्धन्य है, 'हल्दी' का 'ल्' दन्त्य है, और 'लू' का 'ल्' ऊ के प्रभाव के कारण कुछ पीछे हट गया है। प्रायः प्रत्येक वर्ण के इसी प्रकार दो रूप होते हैं। एक तो स्थायी, श्राव्य, तथा व्यावहारिक होता है और दूसरा परिवर्तनशील, उच्चरित, तथा वैज्ञानिक। पहले को 'ध्वनिग्राम' कहते हैं और दूसरे को 'सध्वनि'। उपर्युक्त उदाहरण में 'ल्' का श्राव्य रूप 'ध्वनिग्राम' है और भिन्न-भिन्न शब्दों में विभिन्न प्रकार से उच्चरित रूप 'सध्वनि' है। इस प्रकार किसी वर्ण का 'ध्वनिग्राम' तो केवल एक होता है, जिसका एक निश्चित लिपि-चिह्न भी होता है किन्तु उसकी संध्वनियाँ अनेक होती हैं और यह सदा सम्भव नहीं होता कि उन सबके लिए पृथक् लिपि-चिह्न हों। किसी ध्वनिग्राम की विभिन्न सध्वनियों में पारस्परिक अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उसे लिपि-चिह्नों द्वारा नहीं बल्कि उच्चारण के सूक्ष्म परीक्षण द्वारा ही जाना जा सकता है।

सध्वनि और ध्वनिग्राम में व्यक्ति और परिवार का-सा सम्बन्ध है। जैसे संयुक्त परिवारों में सभी व्यक्ति अपना-अपना व्यक्तित्व रखते हुए भी उसी में बँधे रहते हैं, उसी प्रकार 'ध्वनिग्राम' में अनेक 'सध्वनियाँ' बँधी रहती हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से सध्वनि अधिक महत्वपूर्ण है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से मिलती-जुलती सध्वनियों को एक समूह (ग्राम) के अन्तर्गत मानकर उन्हें 'ध्वनि-ग्राम' नाम दे दिया जाता है। सध्वनि को स्वन्यंग (Allophone) तथा ध्वनिग्राम को ध्वनिश्रेणी या स्वनिमात्र (Phoneme) भी कहते हैं। दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए ब्लॉक तथा ट्रेगर ने लिखा है, "A phoneme is a class of phonetically similar sounds...... The individual sounds which compose a phoneme are its allophones."

कुछ लेखकों ने 'भाषा-ध्वनि' शब्द का प्रयोग सध्वनि के अर्थ में तथा कुछ ने ध्वनिग्राम के अर्थ में किया है। उदाहरणार्थ, डॉ० डेनियल जोन्स तथा डॉ० सु० कु० चटर्जी ने इसे 'सध्वनि' के अर्थ में प्रयुक्त किया है जबकि ब्लूमफील्ड ने 'ध्वनिग्राम' के अर्थ में। ग्रामोंटीन ने इसे एक स्थान पर सध्वनि के अर्थ में लिया है और दूसरे स्थान पर ध्वनिग्राम के अर्थ में। अतः अच्छा यह है कि इस शब्द (भाषा-ध्वनि) का दोनों में से किसी भी अर्थ में प्रयोग न किया जाए।

इन तीनों बातों के आधार पर ध्वनियों का वर्गीकरण भी तीन प्रकार से किया जा सकता है :

(१) श्रवणीयता के अनुसार,
(२) उच्चारण-स्थान की दृष्टि से,
(३) प्रयत्न के अनुसार ।

(१) श्रवणीयता के अनुसार वर्गीकरण

श्रवणीयता के अनुसार ध्वनि के दो भेद किए जाते हैं—स्वर और व्यंजन । स्वर और व्यंजन के भेदक लक्षणों के सम्बन्ध में प्राचीन एवं नवीन मान्यताओं में बहुत अन्तर है । प्राचीन मान्यता के अनुसार स्वर वह ध्वनि है जिसका उच्चारण अन्य ध्वनियों की सहायता के बिना किया जा सके, जबकि व्यंजन वह ध्वनि है जो स्वर की सहायता के अभाव में उच्चरित न हो सके । महाभाष्यकार पतञ्जलि का कथन है, "स्वयं राजन्ते स्वरा अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति" (१/२/१) अर्थात् स्वर स्वयं सुशोभित होते हैं, व्यंजन पीछे चलते हैं । नवीन मान्यता स्वर और व्यंजन के इस भेदक लक्षण को नहीं मानती । एक तो, ऊष्म व्यंजन ध्वनियाँ (स् ष् श्) स्वतः उच्चरित हो सकती हैं, दूसरे, श्री भोलानाथ तिवारी (?) के अनुसार कुल्लारिया, रूमानिया, तथा अफ्रीका की कुछ भाषाओं में अनेक शब्द केवल व्यंजनों से मिलकर ही बनते हैं । चैक भाषा का तो एक पूरा वाक्य ऐसा है जिसमें केवल व्यंजन ही हैं, स्वर एक भी नहीं—"STRC PRST SKRZ KRK" (अपने गले को उँगली से दबाओ) । अतः स्वर-व्यंजन का भेदक लक्षण कुछ ऐसा होना चाहिये जो निरपवाद हो । नवीन मान्यता के अनुसार स्वर वे सघोष ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में मुखद्वार थोड़ा-बहुत सदैव खुला रहता है और वायु बिना किसी अवरोध के केवल जिह्वा की स्थिति के परिवर्तन से, बाहर निकल जाती है । इसके विपरीत व्यंजन वे सघोष या अघोष ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में मुख-द्वार पूर्ण या आंशिक अवरोध उत्पन्न करता है । वास्तव में अवरोध होता तो 'स्वर' में भी है किन्तु वह 'मुख' में न होकर 'स्वर-यंत्र' में होता है, जबकि 'व्यंजन' में अवरोध 'मुख' में तो अवश्य होता है, 'स्वर यंत्र' में हो भी सकता है और नहीं भी । यदि अवरोध केवल 'मुख' में हो तो वह व्यंजन 'अघोष व्यंजन' कहलाएगा, किन्तु यदि अवरोध 'मुख' और 'स्वर-यंत्र' दोनों स्थानों पर हो तो वह व्यंजन 'सघोष व्यंजन' कहलाएगा ।

संक्षेप में, नवीन मान्यता के अनुसार स्वर और व्यंजन का मुख्य अन्तर यह है कि स्वर में 'मुख' में अवरोध नहीं होता जबकि व्यंजन में 'मुख-अवरोध' अनिवार्य है । यह अवरोध पूर्ण भी हो सकता है और आंशिक भी । इस मुख्य अन्तर के अतिरिक्त स्वर और व्यंजन के अन्य भेदक लक्षण इस प्रकार हैं

(१) स्वर अपेक्षाकृत मुखर होते हैं अर्थात् दूर से सुने जा सकते हैं जबकि व्यंजन कम मुखर होते हैं ।

(२) प्राय सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है जबकि

बोलते है उस समय सांस नहीं लेते प्रत्युत् जो वायु हम अन्दर खींच चुके हैं वही धीरे-धीरे खर्च होती रहती है अर्थात् सांस को बाहर निकालते समय हम उसका उपयोग बोलने मे कर लेते हैं । जब मनुष्य का एक पूरा सांस समाप्त हो जाता है तब वह बिना दूसरा सांस लिए एक भी शब्द नही बोल सकता । गाना गाते समय भी बीच बीच मे इसीलिये सांस लेनी पड़ती है क्योंकि ध्वनि तैयार करनेवाला कच्चा माल समाप्त हो जाता है ।

सांस लेते समय और चुप रहकर सांस छोडते समय काकल पूर्ण रूप से खुला रहता है अत वायु के आने-जाने मे कोई बाधा नही होती । काकल की ठीक यही दशा अघोष ध्वनियों के उच्चारण मे होती है अर्थात् अघोष ध्वनियों के उच्चारण के समय दोनो स्वरतंत्रियां ढीली पड़ी रहती हैं और वायु बिना किसी घोष के सरलता से बाहर निकल जाती है, परन्तु सघोष ध्वनियो के उच्चारण के समय स्वरतंत्रियां पास आ जाती हैं और काकल छोटा रह जाने से हवा निकलने मे बाधा पडती है । अतः हवा स्वरतंत्रियों को धक्का देकर निकलती है जिससे घोष होता है । केवल सघोष ध्वनियां ही गेय होती है, अघोष नही ।

स्वरतंत्रियो के ऊपर अभिकाकल (Epiglottis) नामक एक ढक्कन होता है जो खाना खाते समय स्वर-यंत्र को ढंक लेता है और बोलते समय भोजननलिका को। जब मनुष्य खाते समय बोलने लगता है तब वह अभिकाकल बहुत तेजी से कार्य करता है, कभी भोजननलिका को ढकता है तो कभी श्वासनलिका को । यही कारण है कि खाते समय बोलने से कभी-कभी फंदा भी लग जाता है ।

स्वरतंत्रियों तथा गलबिल को पार करके हवा मुख मे प्रवेश करती है और कोमल तालु, कठोर तालु, मूर्द्धा, वर्त्स, दांत, ओष्ठ, और जिह्वा आदि की सहायता से ध्वनि उत्पन्न करती है । इनमे से प्रत्येक का अलग-अलग महत्त्व है और प्रत्येक प्रत्येक ध्वनि की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है । यह तो हो सकता है कि किसी एक ध्वनि के उच्चारण में वर्त्स का अधिक महत्त्व हो, दूसरी मे ओष्ठ का, किन्तु समग्र ध्वनि समूह के लिए इनमे से प्रत्येक समान रूप से महत्त्वपूर्ण है और किसी का भी अभाव होने पर ध्वनि में विकार उत्पन्न हो जाता है ।

ध्वनियों का वर्गीकरण

किसी भी ध्वनि के उच्चारण मे तीन बातें होती है

(१) वह मुख से, किस प्रकार बाहर निकलती है और श्रोता को दूर से सुनाई देती है या पास से अर्थात् उसकी श्रवणीयता कितनी है,

(२) वह किस अवयव द्वारा अथवा किस स्थान से उच्चरित होती है,

(३) उसके उच्चारण के समय मे स्वरतंत्रियों का क्या प्रयत्न रहता है, अर्थात् वायु का निरोध और विसर्जन किस प्रकार होता है ।

स्वरों के अग्र (इ, ई, ए, ऐ, ऋ), मध्य (अ), तथा पश्च (आ, उ, ऊ, ओ, औ) भेद हैं।

(ख) ऊपर जिन ध्वनियों को डॉ० श्यामसुन्दरदास ने कण्ठ्य, मूर्धन्य, तथा तालव्य कहा है उन्हें किसी-किसी विद्वान् ने क्रमशः कोमल तालव्य तालव्य, तथा वर्त्स्य (वर्न्स्य) कहा है।

(२) प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण

भाषणावयवों द्वारा वायु का अवरोध-अनवरोध ही प्रयत्न कहलाता है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है—आभ्यन्तर प्रयत्न [जो आभ्यन्तर अवयवों से हो, आभ्यन्तर अवयव='मुख' में स्थित भाषणावयव, जैसे जिह्वा आदि] और बाह्य प्रयत्न [जो बाह्य अवयवों से हो, बाह्य अवयव कौए से पहले के भाषणावयव, जैसे स्वर-तन्त्री और काकल]। अतः प्रयत्न की दृष्टि से ध्वनियों का वर्गीकरण दो प्रकार से हो सकता है—*आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार और बाह्य प्रयत्न के अनुसार।*

आभ्यन्तर प्रयत्न के अनुसार

(अ) स्वर : यद्यपि स्वरों के उच्चारण में वायु बिना रुकावट बाहर निकलती है और मुखद्वार सदैव खुला रहता है, तथापि जिह्वा की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण मुख-द्वार का अवकाश कम-अधिक होता रहता है। मुख-द्वार के इसी कम-अधिक खुलने के अनुसार स्वरों के संवृत, अर्द्ध-संवृत, अर्द्ध-विवृत, और विवृत भेद हैं

संवृत : जब मुख-द्वार बहुत सकरा हो परन्तु फिर भी हवा के बिना अवरोध बाहर निकलने के लिए स्थान रहे जैसे— इ, ई, उ, ऊ के उच्चारण में।

अर्द्ध-संवृत : जब मुख-द्वार अध-सकरा हो, जैसे—'ए' तथा शब्दान्त के मध्य में आनेवाले 'अ' के उच्चारण में।

अर्द्ध-विवृत : जब मुख-द्वार अध-खुला हो, जैसे—अ, ऐ, ओ, औ के उच्चारण में।

विवृत : जब मुख-द्वार यथासम्भव पूर्णतया खुला रहे, जैसे 'आ' के उच्चारण में।

टिप्पणी—(क) प्राचीन काल में 'अ' उच्चारण की दृष्टि से अर्द्ध-संवृत था, पर अब अर्द्ध-विवृत है।

(ख) संवृत में जिह्वा ऊपर उठती है, अर्द्ध-संवृत में कुछ-कुछ अवस्था में रहती है, अर्द्ध-विवृत में निम्न मध्य अवस्था में, और विवृत में यथासम्भव नीची।

(आ) व्यंजन : व्यंजनों के उच्चारण में मुख-द्वार जिह्वा आदि भाषणावयवों के पूर्ण-अपूर्ण स्पर्श द्वारा एक बार पूर्णतया बन्द होकर वायु का निरोध करता है और स्पर्श दूर होने पर वायु पुनः स्फोट, घर्षण आदि के साथ बाहर निकलती है। इस वायु-निरोध तथा पुनः बहिर्निस्सरण की रीति के अनुसार व्यंजनों को निम्नलिखित [illegible] में विभाजित किया जाता है

व्यंजनों में केवल संघर्षी व्यंजन ही ऐसे हैं, अन्यों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता।

(३) स्वर स्वराघात वहन कर सकते हैं, व्यंजन नहीं।

(४) ऑसिलोग्राफ आदि यंत्रों में स्वर और व्यंजनों की लहरों में स्पष्ट अंतर मिलता है।

(२) उच्चारण-स्थान की दृष्टि से वर्गीकरण

बाहर आती हुई 'साँस' वागयंत्र के जिस स्थान पर रुककर 'ध्वनि' बनती है वह उस ध्वनि का 'स्थान' कहलाता है। उदाहरण के लिए, बाहर आती हुई साँस यदि दाँतों के पास रुककर ध्वनि बनती है तो वह ध्वनि 'स्थान' के अनुसार 'दन्त्य' कहलाती है, यदि ओठों से रुककर ध्वनि बनती है तो 'स्थान' के अनुसार 'ओष्ठ्य' कहलाती है।

हिन्दी की ध्वनियों का स्थान की दृष्टि से वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

वर्ग	स्थान (उच्चारणावयव)	ध्वनि
(अ) काकल्य (उरस्य)	काकल	ह्, विसर्ग (:)
(आ) जिह्वामूलीय	जिह्वामूल तथा कंठ का पिछला भाग	क़्, ख़्, ग़्,
(इ) कंठ्य	(क) कंठ	अ, आ
	(ख) कंठ, काग, तथा नासिका	ङ्, ँ
	(ग) कंठ तथा जिह्वा का पिछला भाग	क्, ख्, ग्, घ्
(ई) कंठ-तालव्य	कंठ तथा तालु	ए, ऐ
(उ) कंठोष्ठ्य	कंठ तथा ओष्ठ	ओ, औ
(ऊ) मूर्धन्य	(क) मूर्धा तथा जिह्वा की उल्टी नोक	ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़्, ढ़्,
	(ख) मूर्धा तथा जिह्वानोक	ऋ, ष्
(ए) तालव्य	कठोर तालु तथा जिह्वोपाग्र	इ, ई, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य्, श्
(ऐ) वर्त्स्य	वर्त्स तथा जिह्वानोक	न्, न्ह, ल्, ल्ह्, र्, र्ह्, स्, ज़्
(ओ) दन्त्य	ऊपर-नीचे के दाँतों की पंक्ति का भीतरी भाग तथा जिह्वानोक	त्, थ्, द्, ध्
(औ) दन्तोष्ठ्य	ऊपर के दाँत तथा नीचे का ओठ	व्, फ़्
(अं) द्व्योष्ठ्य	दोनों ओठ	उ, ऊ, प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्, व्

टिप्पणी : (क) स्वरों के उच्चारण में सर्वप्रमुख भाषणावयव जिह्वा है अतः इस विचार से कि जीभ का कौन-सा भाग ऊपर उठता है

(अ) स्वरतन्त्री के अनुसार : साँस लेते छोड़ते समय स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे से पृथक रहती हैं और वायु स्वच्छन्द आ-जा सकती है। बोलते समय वायु अन्दर से बाहर को तीव्र जाती है (केवल विवृत ध्वनियों को छोड़कर) और उसका कण्ठपिटक या स्वर-यन्त्र के समीप होने से ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो स्वरतन्त्री की अवस्था के अनुसार दो प्रकार की हो सकती हैं—सघोष और अघोष। यदि स्वरतन्त्रियाँ निकट सटी आ जाती हैं तो वायु को इन्हें धक्का देकर बाहर जाना पड़ता है और एक विशेष घोष या नाद होता है, इस प्रकार उत्पन्न ध्वनियाँ सघोष, घोष या नाद कहलाती हैं। हिन्दी में कवर्ग आदि पंच वर्गों के तीसरे, चौथे, और पाँचवें वर्ण, समस्त स्वर तथा य, र, ल, व, और ह् सघोष हैं। यदि स्वरतन्त्रियाँ दूर हों तो वायु को निकलने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता और इस प्रकार निकली ध्वनि 'अघोष' या 'श्वास' कहलाती है। हिन्दी में कवर्ग आदि पंच वर्गों के पहले तथा दूसरे वर्ण और श, ष, स् अघोष हैं। सघोष और अघोष के बीच पहचान की विधि यह है कि यदि कण्ठपिटक पर अंगुली लगाने से एक प्रकार का कम्पन या कानों में अंगुली देने से एक प्रकार की गूँज मालूम दे तो वह ध्वनि सघोष है, अन्यथा अघोष।

(आ) प्राण के अनुसार : प्राणन (उर) में 'ह्' तथा विसर्ग ( ) ध्वनियों का उच्चारण होता है। इनमें 'ह्' का हिन्दी, उर्दू, और अंग्रेजी में बहुत महत्त्व है। यह ध्वनि पृथक रूप से प्रयुक्त होने के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यंजनों के साथ भी मिल कर आती है, जैसे T+H=TH (ट+ह्=ठ्)। जिन व्यंजनों में 'ह्' का समावेश रहता है वे 'महाप्राण' और जिनमें नहीं रहता वे 'अल्पप्राण' कहलाते हैं। संघर्षी व्यंजनों, स्वरों और अर्द्ध-स्वरों में अल्पप्राण-महाप्राण का भेद नहीं माना जाता। हिन्दी में कवर्ग आदि पंच वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण, ढ़्, ह्, विसर्ग, न्ह्, म्ह्, ल्ह्, और र्ह्, महाप्राण हैं तथा पंचवर्गों के पहले, तीसरे, और पाँचवें वर्ण, र्, ल्, और ड़्, अल्पप्राण हैं।

उक्त स्थान तथा प्रयत्न के अनुसार वर्गीकरण को तालिका के रूप में इस प्रकार दिखलाया जा सकता है

स्वरों का वर्गीकरण

स्थानानुसार → प्रयत्नानुसार ↓	कंठ्य	कंठ-तालव्य	कंठोष्ठ्य	तालव्य	द्व्योष्ठ्य
संवृत				इ, ई	उ, ऊ
अर्द्ध-संवृत		अ (कभी-कभी), ए			
अर्द्ध-विवृत	अ	ऐ	ओ, औ		
विवृत	आ				

(क) स्पर्श : इनमें वायु किन्हीं दो उच्चारणावयवों (जैसे पवर्ग में दोनों ओष्ठ) के पूर्ण स्पर्श के कारण मुख-द्वार पूर्णतः बन्द हो जाता है और वायु बिल्कुल रुक जाती है। फिर स्पर्श दूर हो जाने पर हवा स्फोट के साथ बाहर निकलती है, इसीलिए 'स्पर्श ध्वनियों' को 'स्फोट ध्वनियाँ' भी कहते हैं। संस्कृत में कवर्ग से पवर्ग तक २५ वर्ण स्पर्श माने जाते हैं (कादयो मावसानाः स्पर्शाः), परन्तु हिन्दी में कवर्ग, तवर्ग, टवर्ग, और पवर्ग के प्रथम चार-चार वर्ण (अर्थात् केवल 16 वर्ण) ही स्पर्श माने जाते हैं।

(ख) संघर्षी : इसमें दो उच्चारणावयव इतने पास आ जाते हैं कि वायु को घर्षण करके बाहर निकलना पड़ता है। स्पर्श वर्णों में पहले तो उच्चारणावयवों के मिल जाने के कारण वायु एकदम रुक जाती है और तत्पश्चात् स्पर्श हट जाने पर स्फोट के साथ बाहर निकलती है, किन्तु संघर्षी वर्णों में वायु रुकती नहीं वरन् मुख-द्वार का मार्ग छोटा पड़ जाने के कारण संघर्ष करती हुई बाहर निकलती है। स्, श्, ष्, ह्, विसर्ग (:) फ्, ज्, ख़्, ग़्, व् आदि इसके उदाहरण हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी हिन्दी के अपने ग्रन्थों में 'ष्' का अभाव बतलाते हैं।

(ग) स्पर्श संघर्षी : वे ध्वनियाँ जिनका प्रारम्भ स्पर्श से हो (अर्थात् पहले वायु रुक जाए) परन्तु बाद में स्पर्श हटने पर वायु झटके से न निकलकर धीरे-धीरे संघर्ष करती हुई निकले। हिन्दी की च्, छ्, ज्, झ् ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं।

(घ) अनुनासिक : जब मुख-विवर बंद हो जाने के कारण हवा पूर्णतः अथवा अंशतः नासिका से निकल जाए तो वे ध्वनियाँ अनुनासिक होती हैं। हिन्दी में ङ्, ञ्, ण्, न्, म, ँ, न्ह्, म्ह्, अनुनासिक ध्वनियाँ हैं।

(ङ) पार्श्विक : वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में मुख-द्वार बीच में बंद हो जाने के कारण वायु जिह्वा के इधर-उधर (पार्श्व) से होकर निकल जाए, जैसे हिन्दी की 'ल्' तथा 'ल्ह्' ध्वनियाँ।

(च) लुंठित : वे ध्वनियाँ जिनमें जिह्वा बेलन की तरह लुढ़ककर तालु को छूकर ध्वनि करती हैं, लुंठित कहलाती हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० बाबूराम सक्सेना, और डॉ० श्यामसुन्दरदास के अनुसार 'र्' और 'र्ह्' लुंठित हैं किन्तु डॉ० भोलानाथ तिवारी 'र्' को 'कम्पनजात' मानते हैं।

(छ) उत्क्षिप्त : इसमें जिह्वा की नोक उलटकर झटके के साथ तालु को छूकर हट जाती है, जैसे ड़्, ढ़् के उच्चारण में।

(ज) अर्द्ध-स्वर : इसमें मुख-द्वार सकरा तो हो जाता है और थोड़ा-सा स्पर्श भी होता है परन्तु वायु बीच से स्वर की भाँति बिना घर्षण किए निकल जाती है, जैसे व्, य् के उच्चारण में।

बाह्य प्रयत्न के अनुसार

बाह्य प्रयत्न दो हैं—स्वरतंत्री और काकल। इन्हीं दोनों के प्रयत्न के अनुसार ध्वनियों का वर्गीकरण होता है :

ध्वनि-गुण

ध्वनियों का उच्चारण करते समय हम उन पर अनेक प्रभाव डालते रहते हैं जिनसे ध्वनियों के स्वरूप में विशिष्ट अन्तर आ जाता है। इन्हीं प्रभावों को ध्वनियों के गुण कहा जाता है। इस प्रकार पड़नेवाले प्रभाव मुख्यतः ३ हैं, अतः ध्वनियों के ३ गुण माने जाते हैं।

१. मात्रा या परिमाण (Degree or Quantity)
२. बलाघात (Stress accent)
३. सुर (Pitch accent)

कभी-कभी इन गुणों को केवल दो वर्गों में ही बाँटा जाता है— मात्रा (Degree) तथा स्वराघात (Accent); और स्वराघात के ३ भेद माने जाते हैं: बलाघात या बलात्मक स्वराघात (Stress accent), सुर या संगीतात्मक स्वराघात (Pitch accent), तथा रूपात्मक स्वराघात। आघात के इन तीनों भेदों में से रूपात्मक स्वराघात को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता अतः प्रायः आघात के दो ही रूपों—बलाघात और संगीतात्मक स्वराघात—पर विचार किया जाता है।

मात्रा

भाषा की प्रत्येक ध्वनि के बोलने में कुछ-न-कुछ समय लगता है। किसी भी ध्वनि के उच्चारण में लगनेवाले समय के अंश को भाषा-ध्वनि के सन्दर्भ में 'मात्रा' या 'मात्राकाल' कहते हैं। ध्वनि के इस गुण का सम्बन्ध समय की [illegible] से है। किसी ध्वनि के उच्चारण में समय कम लगता है किसी में ज्यादा और किसी में बहुत ज्यादा। इसी आधार पर प्राचीन भारतीय [illegible] ने स्वरों के ३ भेद किये थे—कम समयवाली ह्रस्व, अधिक समयवाली दीर्घ और उससे भी अधिक समयवाली प्लुत। ह्रस्व को एकमात्रिक, दीर्घ को द्विमात्रिक और प्लुत को त्रिमात्रिक कहा गया है, अर्थात् ह्रस्व से दूना समय दीर्घ के उच्चारण में और तिगुना समय प्लुत के उच्चारण में लगता है। वस्तुतः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत का यह भेद बहुत कुछ स्थूल है। भिन्न-भिन्न शब्दों में [illegible] सकता है, जैसे 'पटवार' शब्द [illegible] परन्तु 'ट' में 'प' की अपेक्षा [illegible] अधिक है। [illegible] के अन्त में [illegible] मात्रा में कम होता है, जैसे [illegible] मात्रा में कम है। बलाघात [illegible] घोष ध्वनियाँ मात्रा में दीर्घ होती हैं। [illegible] मात्रा में दीर्घ मात्रा की अपेक्षा [illegible] में भी यही बात है। [illegible]

यह आघात 'स्वर-यन्त्र' या 'मुख' में पहुँचने पर लगता है। यदि आघात स्वरतन्त्री के कारण लगता है तो उसके परिणामस्वरूप स्वर ऊँचा या नीचा हो जाता है और यदि आघात 'मुख' में लगता है तो ध्वनि कम या अधिक जोर से सुनाई पड़ती है। इसी आधार पर आघात के मुख्यतः दो भेद हो जाते हैं :

(१) बलाघात या बलात्मक स्वराघात (Stress accent),

(२) सगीतात्मक स्वराघात (Pitch accent)।

बलाघात—बलाघात का सम्बन्ध श्वास वायु के अधिक या कम बल से बाहर निकलने से है, अर्थात् सबल ध्वनियों के उच्चारण में फेफड़ों से वायु अधिक बलपूर्वक बाहर निकलती है और निर्बल ध्वनियों के उच्चारण में कम बलपूर्वक। यह बलाघात मुख्यतः तीन प्रकार का होता है सबल (Strong), समबल (Medium), और निर्बल (Weak)। उदाहरण के लिए, 'कारिका' के उच्चारण में सबसे अधिक बल 'का' पर है, उससे कम 'गा' पर, और 'रि' पर सबसे कम है, अत 'का' सबल है, 'गा' समबल है, और 'रि' निर्बल है।

बलाघात का प्रयोग भाषा के बोले जानेवाले रूप में ही होता है लिखित रूप में नहीं, केवल ध्वन्यात्मक भाषाकोशों में ही बलाघातसूचक विशेष चिह्नों का व्यवहार होता है। बलाघातप्रधान भाषाओं में बलाघात का स्थान बदलने पर अर्थ भी बदल जाता है। इस प्रकार की भाषा से अपरिचित व्यक्ति जब ऐसी भाषा सुनता है तो उसे लगता है जैसे हथौड़े से 'ठक्-ठक्' की जा रही है। प्राचीन भाषाओं में लैटिन और अवेस्ता में, तथा आधुनिक भाषाओं में फारसी और अंग्रेजी में, बलाघात का विशेष महत्त्व है। यही कारण है कि अंग्रेजी का सही उच्चारण उसके बलाघातों से परिचित हुए बिना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी में White house (सफ़ेद घर) और White house (अमरीकी राष्ट्रपति का भवन) का उच्चारण बलाघात की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। अंग्रेजी में तो सगीत और छंदरचना का आधार भी बलाघात ही है। रोमन लिपि में बलाघातवाली ध्वनि पर एक विशेष चिह्न (ʹ) लगता है। हिन्दी में बलाघात का महत्त्व इतना अधिक नहीं है। हिन्दी में बलाघात प्रायः शब्दों की उपान्त (अन्तिम से पहली) ध्वनि पर होता है जिससे अकारान्त शब्दों के अंतिम अक्षर उच्चारण में प्राय. हलन्त हो जाते हैं, जैसे कमल् (कमल) आदि।

बलाघात सामान्यतः अघोष ध्वनियों में अधिक होता है क्योंकि अघोष ध्वनियों में हवा स्वरतंत्रियों से बाधित नहीं होती और पूर्ण वेग से मुख में पहुँचती है, जबकि सघोष ध्वनियों में स्वरतंत्रियों से बाधित हो चुकने के कारण हवा पूरे बल से बाहर नहीं आ पाती।

जिस ध्वनि पर बलाघात अधिक रहता है वह अपेक्षाकृत अधिक मुखर रहती है जिससे आसपास की ध्वनियाँ या तो दीर्घ से ह्रस्व हो जाती है या कालान्तर में लुप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए 'अभ्यंतर' में सबल ध्वनि 'न्य' तथा मन्दतर

हो, यह आवश्यक नहीं। प्राय: प्लुत त्रिमात्रिकता की सीमा को पार कर जाता है, जैसे भोजपुरी 'रमुवा हउवेरे' के 'रे' के 'ए' में दस मात्रा से कम का समय नहीं लगता। निष्कर्ष यह है कि मात्रासम्बन्धी सख्या-निर्देश स्थूल दृष्टि से ही ग्राह्य है।

ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने ह्रस्वार्द्ध और दीर्घार्द्ध का भी उल्लेख किया है। जिस स्वर के उच्चारण मे ह्रस्व के उच्चारण से आधा समय लगे उसे 'ह्रस्वार्द्ध' कहते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी शब्द 'Goldsmith' का भारत में जिस प्रकार उच्चारण किया जाता है उसमे 'd' और 's' के बीच एक हलकी-सी 'इ' ध्वनि सुन पड़ती है जिसके उच्चारण मे 'इ' के सामान्य उच्चारण से आधा समय लगता है, अतः इसे ह्रस्वार्द्ध कहा जाता है। मूल भारोपीय भाषा में भी इस प्रकार का स्वर प्रचलित था जिसे आधुनिक भाषाविज्ञानी 'श्वा' (Schwa) कहते हैं। भारत के प्राचीन ध्वनिविज्ञानी भी इससे अपरिचित नहीं थे जैसा कि 'तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम्' (अष्टाध्यायी १-२-३२) तथा 'अर्द्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा' आदि उक्तियों से सिद्ध है। इसी प्रकार जिस ध्वनि के उच्चारण मे ह्रस्व से अधिक और दीर्घ से कम समय लगता है उसे 'दीर्घार्द्ध' कहते हैं, उदाहरणार्थ, 'ऐसा' 'वैसा' 'है' आदि मे 'ऐ' का उच्चारण शुद्ध दीर्घ न होकर 'दीर्घार्द्ध' होता है। डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने चौथाई मात्रा भी मानी है। उनका कथन है, "यदि अधिक सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो ध्वनियो के उच्चारण मे चौथाई मात्रा का प्रयोग भी पाया जा सकता है, जैसे 'कुम्हार' के 'म्' में"।

सामान्यत मात्राभेद स्वरो मे ही माना जाता है किन्तु व्यजनो में भी मात्रा-भेद सम्भव है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य मे व्यंजनो को अर्द्धमात्रावाला माना गया है। एक ही ध्वनि से बना सयुक्त व्यजन वस्तुत दो व्यजनों का समुच्चय नहीं होता बल्कि व्यंजन का दीर्घ रूप होता है (मात्रा की दृष्टि से), जैसे 'पत्ता' मे दो 'त्' नहीं, एक ही 'त्' का दीर्घ रूप है।

प्रत्येक भाषा मे मात्रा का महत्त्व समान नहीं है। कुछ भाषाओं मे मात्रा-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है, जबकि कुछ अन्यो मे नहीं होता। हिन्दी पहले वर्ग की भाषा है, तो रूसी दूसरे वर्ग की। हिन्दी मे मात्रा-भेद से अर्थ-भेद के कुछ उदाहरण लीजिए :

मिलना ('ल्' मे ह्रस्व स्वर) > मिलाना ('ल्' मे दीर्घ स्वर)
पिटना ('प्' मे ह्रस्व स्वर) > पीटना ('प्' मे दीर्घ स्वर)
कृति ('त्' मे ह्रस्व स्वर) > कृती ('त्' में दीर्घ स्वर)

इसीलिए मात्रा-भेद से अर्थ-भेद हो जानेवाली भाषाओं में मात्रा व्यक्त करने के लिए विशेष चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। हिन्दी की स्वीकृत लिपि देवनागरी में केवल स्वरों में ही नहीं व्यजनो मे भी इसके लिए चिह्न हैं। छन्दशास्त्र में ह्रस्व के लिए। या — और दीर्घ के लिए ऽ या ‾ सकेत हैं।

आघात (स्वराघात)

'आघात' का अर्थ है 'चोट'। फेफड़ों मे बाहर निकसनेव ' ग' को

यह आघात 'स्वर-यंत्र' या 'मुख' में पहुँचने पर लगता है। यदि आघात स्वरतंत्री के कारण लगता है तो उसके परिणामस्वरूप स्वर ऊँचा या नीचा हो जाता है और यदि आघात 'मुख' में लगता है तो ध्वनि कम या अधिक जोर से सुनाई पड़ती है। इसी आधार पर आघात के मुख्यतः दो भेद हो जाते हैं :

(१) बलाघात या बलात्मक स्वराघात (Stress accent),

(२) संगीतात्मक स्वराघात (Pitch accent)।

बलाघात—बलाघात का सम्बन्ध श्वास वायु के अधिक या कम बल से बाहर निकलने से है, अर्थात् सबल ध्वनियों के उच्चारण में फेफड़ों से वायु अधिक बलपूर्वक बाहर निकलती है और निर्बल ध्वनियों के उच्चारण में कम बलपूर्वक। यह बलाघात मुख्यतः तीन प्रकार का होता है सबल (Strong), समबल (Medium), और निर्बल (Weak)। उदाहरण के लिए, 'शारिका' के उच्चारण में सबसे अधिक बल 'का' पर है, उससे कम 'शा' पर, और 'रि' पर सबसे कम है, अत 'का' सबल है, 'शा' समबल है, और 'रि' निर्बल है।

बलाघात का प्रयोग भाषा के बोले जानेवाले रूप में ही होता है लिखित रूप में नहीं, केवल ध्वन्यात्मक भाषाकोशों में ही बलाघातसूचक विशेष चिह्नों का व्यवहार होता है। बलाघातप्रधान भाषाओं में बलाघात का स्थान बदलने पर अर्थ भी बदल जाता है। इस प्रकार की भाषा से अपरिचित व्यक्ति जब ऐसी भाषा सुनता है तो उसे लगता है जैसे हथौड़े से 'ठक्-ठक्' की जा रही है। प्राचीन भाषाओं में लैटिन और अवेस्ता में, तथा आधुनिक भाषाओं में फारसी और अंग्रेजी में, बलाघात का विशेष महत्त्व है। यही कारण है कि अंग्रेजी का सही उच्चारण उसके बलाघातों से परिचित हुए बिना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी में White house (सफेद घर) और White house (अमरीकी राष्ट्रपति का भवन) का उच्चारण बलाघात की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। अंग्रेजी में तो संगीत और छंदरचना का आधार भी बलाघात ही है। रोमन लिपि में बलाघातवाली ध्वनि पर एक विशेष चिह्न (ˊ) लगता है। हिन्दी में बलाघात का महत्त्व इतना अधिक नहीं है। हिन्दी में बलाघात प्रायः शब्दों की उपान्त (अन्तिम से पहली) ध्वनि पर होता है जिससे अकारान्त शब्दों के अंतिम अक्षर उच्चारण में प्रायः हलन्त हो जाते है, जैसे कमल् (कमल) आदि।

बलाघात सामान्यतः अघोष ध्वनियों में अधिक होता है क्योंकि अघोष ध्वनियों में हवा स्वरतंत्रियों से बाधित नहीं होती और पूर्ण वेग से मुख में पहुँचती है, जबकि सघोष ध्वनियों में स्वरतंत्रियों से बाधित हो चुकने के कारण हवा पूरे बल से बाहर नहीं आ पाती।

जिस ध्वनि पर बलाघात अधिक रहता है वह अपेक्षाकृत अधिक मुखर रहती है जिससे [illegible] की ध्वनियाँ या तो दीर्घ से ह्रस्व हो जाती है या कालान्तर में [illegible] के लिए 'अभ्यतर' में सबल ध्वनि 'भ्य' तथा सबल

ध्वनि 'तर' तो बच रही किन्तु निर्बल ध्वनि 'अ' लुप्त हो जाने से पहले 'भ्यंतर' और फिर 'भीतर' बन गया।

बलाघात नापने के लिए कायमोग्राफ नामक यन्त्र का प्रयोग होता है।

संगीतात्मक स्वराघात—इसे सुर, स्वराघात, तान, और गीतात्मक स्वराघात भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध स्वरतन्त्रियों के ढीला करने या तानने से है और इसी के आधार पर ध्वनि कभी ऊँची हो जाती है और कभी नीची। जिस प्रकार तानपूरे के तार ढीले हो जाने पर स्वर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार स्वरतंत्री ढीली पड़ने पर भी संगीतात्मक स्वराघात उत्पन्न नहीं होता। यही कारण है कि संगीतात्मक स्वराघात केवल सघोष ध्वनियों में ही होता है क्योंकि केवल सघोष ध्वनियों के उच्चारण में ही स्वरतन्त्रियाँ तनकर कम्पन उत्पन्न करती हैं, अघोष में नहीं। इसीलिए संगीतात्मक स्वराघात स्वरों में ही अधिक पाया जाता है।

प्राचीन काल में अधिकांश भारोपीय भाषाओं में संगीतात्मक स्वराघात पाया जाता था। वैदिक संस्कृत में तीन प्रकार के संगीतात्मक स्वराघात थे—उदात्त (ऊँचा), अनुदात्त (नीचा), और स्वरित (सम)। इनको व्यक्त करने के लिए उदात्त स्वरों में कोई चिह्न नहीं लगाया जाता था, अनुदात्त में नीचे पड़ी रेखा (—) और स्वरित में ऊपर खड़ी पाई (।) लगाते थे। प्राचीन ग्रीक में भी प्रायः यही स्वराघात थे। चीनी भाषा के उत्तरी रूप मदारिन में चार स्वराघात मिलते हैं—सम, ऊर्ध्वमुख, अधोमुख, और प्रवेशमुख। आधुनिक भारतीय भाषाओं में तेलुगु, भोजपुरी, व्रज, और अवधी में भी संगीतात्मक स्वाराघात सुरक्षित हैं।

स्वराघात-प्रधान भाषाओं में स्वराघात की भिन्नता से अर्थभेद हो जाता है; उदाहरणार्थ, चीनी भाषा के 'फेन्' शब्द के भिन्न-भिन्न स्वराघातों से चार भिन्न अर्थ हो जाते हैं—आँख, हल, धुआँ, और नमक। संस्कृत में स्वराघात की भिन्नता से अर्थ का अनर्थ होने के रूप में 'इन्द्रशत्रु' का उदाहरण प्रसिद्ध है। संगीतात्मक स्वराघात-प्रधान भाषा से अपरिचित व्यक्ति को लगता है कि वक्ता बोल नहीं रहा, गा रहा है। हिन्दी में संगीतात्मक स्वराघात की भिन्नता से शब्दगत अर्थ में तो विशेष अन्तर नहीं पड़ता किन्तु वाक्यगत स्वराघात के भेद से वक्ता प्रश्न, विस्मय, भय, घृणा, प्रेम, दया आदि भाव अवश्य प्रकट कर सकता है; उदाहरण के लिए :

(अ) वह दिल्ली जाएगा। (निश्चित सूचना)

(आ) वह दिल्ली जाएगा ? (प्रश्न)

(इ) वह दिल्ली जाएगा ! (कोई और भले ही दिल्ली चला जाए वह नहीं जा सकता)।

(ई) वह दिल्ली जाएगा ! (वह कहीं और तो जा सकता है, पर दिल्ली नहीं।)

विभिन्न भाषाओं में स्वराघात की स्थिति बदलती रहती है (प्राचीन ग्रीक

संगीतात्मक स्वराघात-प्रधान थी किन्तु आधुनिक ग्रीक बलाघात-प्रधान हो गई है । प्राचीन स्वाहिली (पूर्वी अफ्रीका की एक भाषा) तथा माडिंगो (पश्चिमी अफ्रीका की एक भाषा) में संगीतात्मक स्वराघात था किन्तु अब वह लुप्त हो गया है । वैदिक संस्कृत का संगीतात्मक स्वराघात प्राकृत-काल तक आते-आते लुप्तप्राय हो गया और शौरसेनी तथा मागधी में तो बलाघात तक विकसित हो गया ।

कुछ विद्वान् स्वराघात का एक अन्य भेद 'रूपात्मक स्वराघात' भी मानते हैं । उनके अनुसार सभी व्यक्तियों की स्वरतंत्री एक-सी नहीं होती अतः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के स्वर भी भिन्न-भिन्न होते हैं । यही कारण है कि हम व्यक्ति को बिना देखे भी केवल परिचित कण्ठस्वर सुनकर ही पहचान लेते हैं कि इस समय अमुक व्यक्ति बोल रहा है । कण्ठस्वरों की यह भिन्नता रूपात्मक स्वराघात के कारण होती है । किन्तु अधिकांश भाषाविज्ञानी रूपात्मक स्वराघात को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते । उनका कथन है कि यदि 'रूपात्मक स्वराघात' को स्वीकार किया जाए तो स्वराघात के उतने ही भेद मानने पड़ेंगे जितने कि संसार में प्राणी हैं ।

ध्वनि-गुण का महत्त्व

ध्वनियों के ये गुण प्रत्येक भाषा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं । यदि कोई व्यक्ति इन गुणों की उपेक्षा करता है और इन (मात्रा, बलाघात, और संगीतात्मक स्वराघात) के उच्चारण में त्रुटि करता है तो उस भाषा को समझने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है । डॉ० बाबूराम सक्सेना का कथन है कि प्रत्येक भाषा में मात्रा छंदशास्त्र के लिए, स्वराघात संगीत-शास्त्र के लिए, और बलाघात वाग्मिता के लिए उपयोगी होता है ।

ध्वनि-परिवर्तन

यदि विश्व में कोई नियम शाश्वत है तो उसका नाम है 'परिवर्तन' । इस विश्व में सब कुछ परिवर्तनशील है, विश्व का सर्वश्रेष्ठ प्राणी—मनुष्य—और उसकी भाषा भी परिवर्तनशील है । परिवर्तन भाषा का ऐसा अनिवार्य धर्म है कि लुइस एच० ग्रे की 'भाषा' की परिभाषा ही 'परिवर्तन' पर आधारित है "Language is, at any given period, the result of previous process of evolution and is, at the same time, destined to undergo further changes" (Foundations of Language) यह परिवर्तन भाषा के प्रत्येक अंग—ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, और अर्थ—में होता है । 'ध्वनि' के क्षेत्र में होनेवाला परिवर्तन 'ध्वनि-परिवर्तन' कहलाता है । इस परिवर्तन को कोई उन्नति कहता है तो कोई अवनति, परन्तु भाषाविज्ञान की दृष्टि से परिवर्तन होने पर उन्नति-अवनति का प्रश्न नहीं उठता । भाषाविज्ञानी इस परिवर्तनशीलता को भाषा का 'विकास' मानते हैं और इस विकास के कुछ कारण मानते हैं । यदि ये कारण घटित न हों तो भाषा में बहुत दीर्घकाल तक कोई विकास हो न हो ।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

ध्वनि-परिवर्तन के कारण कौन-कौन से हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। कोई भी व्यक्ति इसके लिए 'इदमित्थं' नहीं कह सकता क्योंकि किसी एक निश्चित कारण से ध्वनि-परिवर्तन नहीं हो जाता, विभिन्न स्थितियों में विभिन्न कारण हो सकते हैं और सभी कारणों का पता आज तक कोई भी नहीं लगा सका है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ध्वनि-परिवर्तन के मुख्यतः निम्नांकित कारण होते हैं :

(१) प्रयत्न लाघव (मुख-सुख) : यह मनुष्य की सहज प्रवृति है कि वह सदैव कम-से-कम परिश्रम करके अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहता है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति भाषा के क्षेत्र में भी कार्य करती है अर्थात् वह अल्पतम प्रयत्न द्वारा अधिकतम भावों तथा विचारों का विनिमय कर लेना चाहता है। मनुष्य की यही प्रवृत्ति 'प्रयत्न-लाघव' या 'मुख-सुख' कहलाती है, "अर्द्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः" इसी प्रवृत्ति की अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या है। इस प्रवृति के कारण 'ध्वनि' के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं और यदि सच कहा जाए तो प्रयत्न-लाघव ही ध्वनि-परिवर्तन का सबसे बड़ा कारण है जिसमें अन्य कारण भी अंतर्भुक्त हो सकते हैं।

प्रयत्न-लाघव के कारण कभी तो कुछ कठिन ध्वनियों का उच्चारण छोड़ दिया जाता है, जैसे स्थल > थल, स्टेशन > टेसन, श्मशान > मसान; कभी उच्चारण की सुविधा के लिए कुछ नयी ध्वनियाँ जोड़ ली जाती है, जैसे स्टेशन > इस्टेशन, स्नान > असनान, स्कूल > इस्कूल; कभी कुछ ध्वनियों का स्थान बदल दिया जाता है, जैसे चिह्न > चिन्ह, ब्राह्मण > ब्राम्हण; तो कभी कुछ ध्वनियों को काट-छाँट कर इतना छोटा कर दिया जाता है कि पहचानना भी कठिन हो जाता है, जैसे चट्टोपाध्याय > चाटुर्ज्या या चटर्जी। प्रयत्न-लाघव के ही कारण असाधारणरूप से लम्बे शब्दों को संक्षिप्त करके बोला जाने लगता है, जैसे United Arab Republic > U.A.R, पाकिस्तान > पाक, शुक्ल-दिवस > सुदि या सुदी, बहुल दिवस > बदि या बदी आदि।

प्रयत्न-लाघव बोली जानेवाली ध्वनियों के परिमाण को हमेशा कम ही करे, ऐसी बात नहीं है; 'छोटा थाल' के स्थान पर जब 'छोटावाला थाल' या 'बेटी' के स्थान पर 'बिटिया' कहा जाता है तो निश्चय ही अधिक ध्वनियाँ बोली जाती हैं किन्तु स्पष्टता के लिए बोली जानेवाली इन अधिक ध्वनियों के बोलने में भी मस्तिष्क को कुछ आराम ही मिलता है, अतः यहाँ भी प्रयत्न-लाघव ही मूल कारण माना जाता है।

'प्रयत्न-लाघव' कभी-कभी कुछ विचित्र विनोदात्मक रूपों में भी कार्य करता दीखता है। जैसे कि, प्रयत्न-लाघव की प्रवृत्ति के कारण पुरुषवाची शब्द रेवतीरमण, नलिनीमोहन, राधावल्लभ, और सीताराम आदि रेवती, नलिनी, राधा (राधे), और सीता आदि तथा स्त्रीवाची शब्द अशोककुमारी, दिनेशनन्दिनी, और शिवरानी आदि अशोक, दिनेश, और शिव बोले जाते हैं जिससे सम्बन्धित व्यक्ति का ...

जाता है। इसके अतिरिक्त विजय, विनय, सन्तोष, कमलेश आदि शब्द ऐसे हैं कि उन्हें स्त्रीवाची भी समझा जा सकता है और पुरुषवाची भी (पुत्र-पुत्री के लिए 'कुमार' या 'कुमारी' न बोलने पर)।

प्रयत्न-लाघव के परिणामस्वरूप जब भाषा के लिखित और उच्चरित रूप भिन्न होने लगते हैं तो कभी-कभी अनुच्चरित ध्वनियाँ लिखित रूप में से भी निकाल दी जाती है, उदाहरण के लिए अमेरिकन अंग्रेजी में अनुच्चरित ध्वनियों का बहिष्कार कर दिया गया है, जैसे—Color (अंग्रेजी में Colour), Labor (अंग्रेजी में Labour) आदि।

(२) अज्ञान तथा अशिक्षा : अज्ञान तथा अशिक्षा भी ध्वनि-परिवर्तन के बहुत बड़े कारण हैं क्योंकि मिथ्या-सादृश्य, भ्रामक व्युत्पत्ति, अनुकरण की अपूर्णता, अन्धविश्वास, और आत्मप्रदर्शन वस्तुतः अज्ञान या अशिक्षा के ही कारण सम्भव होते हैं। जहाँ शिक्षा का अभाव होता है वहाँ लोग अज्ञान के कारण मिथ्या सादृश्य के आधार पर कुछ ध्वनियों को विकृत करके बोलने लगते हैं, जैसे पिंगला के सादृश्य पर इगला (शुद्ध रूप—'इडा') निर्गुण के सादृश्य पर सर्गुण (शुद्ध रूप—'सगुण'), द्वादश के सादृश्य पर एकादश (शुद्ध 'एकदश') आदि अज्ञान के ही परिणाम हैं। जब किसी पूर्व-अपरिचित भाषा की कोई अनभ्यस्त ध्वनि सुनी जाती है तो अशिक्षा के कारण वक्ता उसे ठीक-ठीक नहीं बोल पाता और इसलिए उसे अपनी भाषा की किसी परिचित ध्वनि के साँचे में ढालकर उसका रूप कुछ-से-कुछ बना देता है, जैसे [illegible] > [illegible], [illegible] > रायबरेली, चेम्सफोर्ड > चिमसफोड आदि। अनुकरण की अपूर्णता भी अधिकांशतः अशिक्षाजन्य ही होती है। शरीर वागयन्त्र के कारण होनेवाली अनुकरण की अपूर्णता एक दो व्यक्तियों में तो सम्भव है, सभी में नहीं। जब हम नई ध्वनि सुनते हैं तो अशिक्षा के कारण उसका पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाते जिससे ध्वनि में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है, उदाहरण के लिए 'ओ३म् नमः सिद्धम्' का 'ओनामासीधम' जैसा रूपान्तर अशिक्षाजन्य अनुकरण की अपूर्णता के कारण है। आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति भी अज्ञानजन्य ही है, उदाहरणार्थ, कुछ शिक्षित व्यक्ति अपने को अधिक विद्वान दिखाने के चक्कर में 'इच्छा' को 'इक्षा', [illegible], और [illegible] को 'निरावलिस' बोलते हैं।

(३) शीघ्र भाषण : प्रयत्नलाघव के कारण जो ध्वनिपरिवर्तन होते हैं वे जानबूझकर किए जाते हैं किन्तु कभी-कभी अनजाने भी—जल्दी बोलने के कारण—ध्वनिपरिवर्तन हो जाते हैं। शीघ्रता के कारण कुछ ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है, कुछ का अपूर्ण उच्चारण होता है, और कुछ पूर्णतः लुप्त हो जाती हैं, जैसे मार डाला < माड़ डाला, पंडित जी > पंडिज्जी, मास्टर साहब > [illegible] आदि।

(४) आघात : बोलते समय किसी विशेष ध्वनि पर अधिक बलाघात या स्वराघात पड़ने से भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। जिस ध्वनि पर बल होता है उसके पास की निर्बल ध्वनि प्रायः लुप्त हो जाती है और कालान्तर में ध्वनिपरिवर्तन हो

जाता है, जैसे उपकार > ओपार। स्वराघात के कारण भी कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ विलुप्त हो जाती हैं, जैसे वृन्त > बोंड़। पाश्चात्य प्रदेशों की बोलियों में प्रायः 'आ' का लोप हो जाता है, जैसे बाजार > बजार। संस्कृत शब्द 'द्वि' में पहली ध्वनि पर बल पड़ने से हिन्दी में 'दो' शब्द बन गया और दूसरी ध्वनि पर बल पड़ने से गुजराती में 'बे'। (गुजराती में 'दो' को 'बे' कहते हैं।)

(५) कवि स्वातंत्र्य : निरंकुश कहे जानेवाले कवि भी मात्रापूर्ति, कोमलता और माधुर्य के लिए ध्वनि-परिवर्तन कर देते हैं। हिन्दी के रीतिकालीन कवि इसमें दुर्नाम रहे हैं। तुक और मात्रापूर्ति के लिए कविगण [illegible] > [illegible], [illegible] > [illegible], जहान > जहाना आदि प्रयोग करते रहे हैं। कोमलता और माधुर्य के लिए 'ण्' के स्थान पर 'न्', 'ल्' के स्थान पर 'र्', 'य्' के स्थान पर 'ज्', और 'श्' के स्थान पर 'स्' किया जाता रहा है, जैसे चरण > चरन, काजल > काजर, यशोदा > जसोदा, शशि > ससि आदि। जब प्रसिद्ध कविगण ऐसे प्रयोग अधिक करने लगते हैं तो ये अशुद्ध प्रयोग ही धीरे-धीरे भाषा में गृहीत होकर चल पड़ते हैं और इस प्रकार कालान्तर में ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है।

(६) भावातिरेक : प्रेम, क्रोध, घृणा, शोक आदि भावों के अतिरेक में भी ध्वनियाँ परिवर्तित हो जाती हैं। दैनिक जीवन में ऐसे ध्वनि-परिवर्तनों के अनेक उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे बाबू > बबुआ, बेटी > बिटिया, चाची > चच्ची, राम > रामू या रमुआ, सत्यवती या सत्यकुमार > सत्तो, जगमोहन > जग्गो आदि। लोकगीतों में 'लघु देवर' का स्नेहपूर्ण उच्चारण 'लहुरा देवरवा' सुनने को मिल जाता है।

(७) लिपि-दोष : संसार में कोई भी भाषा ऐसी नहीं है जिसमें सभी भाषाओं की सभी ध्वनियाँ पूर्ण शुद्धता से लिखी जा सकें। इसीलिए जब किसी एक भाषा की लिपि में दूसरी ऐसी भाषा लिखी जाती है जिसकी सभी ध्वनियों के चिह्न उस लिपि में नहीं होते तब अनेक अशुद्ध उच्चारण होने लगते हैं जो कालान्तर में भाषा का अंग बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में रोमन लिपि की अपूर्णता सर्वविदित है। हिन्दी के गुप्त, मिश्र आदि शब्द रोमन लिपि के कारण गुप्ता (Gupta), मिश्रा (Misra) आदि बन गए। दिल्ली का प्रसिद्ध उपनगर 'रामकृष्णपुरम्' रोमन लिपि के ही कारण 'रामाकृष्णापुरम्' हो गया। अशोक और बुद्ध जैसे महापुरुषों को इस दुष्ट (दोषपूर्ण) लिपि ने 'अशोका' और 'बुद्धा' बना दिया। फारसी लिपि के दोषपूर्ण होने से प्रकाश > परकाश, और राजेन्द्र > राजेन्दर या रजिन्दर बन गए। देवनागरी लिपि में 'ख' और 'रव' की समानता के कारण जब 'ख' को 'ष' लिखा जाने लगा तो 'ख' और 'ष' ध्वनियाँ अनेक स्थानों पर परस्पर परिवर्तित हो गईं और लोग 'ष' को भी 'ख' ही समझने लगे जिससे वर्षा > बरखा, हर्ष > हरख, भाषा > भाखा आदि प्रयोग चल पड़े।

(८) अपनी भाषा में विदेशी ध्वनि का अभाव : जब किसी नई भाषा

सम्पर्क होता है तो बहुत-सी अपरिचित ध्वनियाँ सामने आती हैं। शिक्षार्थी अपरिचित ध्वनियों का शुद्ध उच्चारण करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे फिर भी ध्वनि कुछ न कुछ बदल ही जाती है। उदाहरण के लिए, फारसी की क़्, ग़् ज़्, फ़् आदि ध्वनियाँ हिन्दी में क्, ग्, ज्, फ् आदि हो गईं। अंग्रेजी की 'O' ध्वनि का उच्चारण हिन्दी में 'आ' भी होता है और 'ओ' भी, 'ऑ' उच्चारण करनेवालों की संख्या अत्यल्प है।

(९) भौगोलिक प्रभाव : कभी-कभी भौगोलिक परिस्थितियाँ भी ध्वनि-परिवर्तन का कारण बन जाती हैं। शीतप्रधान देशों में प्राय संवृत ध्वनियों का आधिक्य रहता है और गर्म देशों की विवृत ध्वनियाँ भी शीतप्रधान देशों में प्राय संवृत रूप में बोली जाती हैं। भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव निवासियों के वागयन्त्र पर भी पड़ता है। यही कारण है कि एक स्थान के व्यक्ति दूसरे स्थान की ध्वनियों का पूर्णत. शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते और इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है।

(१०) ऐतिहासिक प्रभाव : किसी भाषा की ध्वनियों के क्रमिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि समय बीतने के साथ-साथ विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, और धार्मिक परिस्थितियों का भी ध्वनि पर प्रभाव पड़ता रहता है। जब समाज में कोई सामाजिक, सांस्कृतिक, या राजनीतिक हलचल होती है तो उसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ता है और भाषा के अन्य अंगों के साथ-साथ ध्वनियों में भी परिवर्तन होता है।

ध्वनी-परिवर्तन की दिशाएँ

ध्वनि-परिवर्तन सदैव किसी एक निश्चित दिशा में नहीं होता, भिन्न-भिन्न कारणों से ध्वनि-परिवर्तन भी विभिन्न दिशाओं में होता है। आगे ध्वनि-परिवर्तन की विविध दिशाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

(१) लोप कभी-कभी शीघ्रता, स्वराघात, या प्रयत्न-लाघव के कारण कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं। यह लोप तीन प्रकार का हो सकता है—स्वर लोप, व्यंजन-लोप, और अक्षर-लोप। यह लोप आदि के स्वर, व्यंजन और अक्षर का हो सकता है; मध्य के स्वर, व्यंजन, और अक्षर का हो सकता है, अथवा अंत्य स्वर, व्यंजन, और अक्षर का हो सकता है। इस दृष्टि से इसके निम्नलिखित भेद हो जाते हैं :

(क) स्वर-लोप . आदि स्वर-लोप अनाज > नाज, असवार > सवार, अहाता > हाता, अगर > गर।

मध्य स्वर-लोप जनता > जन्ता, Do not > Don't

अन्त्य स्वर-लोप : गंगा > गंग, तने > तन, जाति > जात, बाहु > बाँह, मिला > मिल।

(ख) व्यंजन-लोप आदि व्यंजन-लोप स्नेह > नेह, स्फूर्ति > फुर्ती, स्थाली > थाली, श्मशान > मसान।

मध्य व्यंजन-लोप : सूची > सुई, कोकिल > कोइल, उपवास > उपास, कार्तिक > कातिक, फाल्गुन > फागुन।

अन्त्य व्यंजन-लोप : आम्र > आम, धान्य > धान, सत्य > सत्, असह्य > असह।

(ग) अक्षर-लोप : आदि अक्षर-लोप : अम्मां > मां, अबरेशम > रेशम (फारसी), Necktie > Tie, त्रिशूल > शूल ।

मध्य अक्षर-लोप . फलाहार > फलार, भांडागार > भाण्डार या भंडार।

अन्त्य अक्षर-लोप : चाय > चा, पार्श्व > पास।

(घ) समाक्षर-लोप : जब एक ही शब्द में कोई ध्वनि पास-पास दो बार आती है तो मुख-सुख के कारण उच्चारण में उनमें से प्रायः एक का लोप हो जाता है। इसे 'समाक्षर लोप' कहते हैं; जैसे, नाक कटा > नकटा, खरीददार > खरीदार, Part-time > Partime आदि।

(२) आगम किसी शब्द में किसी नवीन ध्वनि के आने को आगम कहते है। यह नई ध्वनि स्वर, व्यंजन, या अक्षर कुछ भी हो सकती है तथा शब्द के आदि, मध्य, या अंत में कहीं भी आ सकती है। नई ध्वनि शब्द के किस स्थान पर आई है तथा वह स्वर है, या व्यंजन, या अक्षर—इस आधार पर 'आगम' के विविध भेद हो जाते हैं :

(क) स्वरागम : आदि आगम : शंका > असंका, स्नान > अस्नान, स्तुति > अस्तुति, प्लातोन > अफलातून।

मध्य आगम : जन्म > जनम, कर्म > करम, रक्त > रकत, ग्लानि > गिलानी, हुक्म > हुकुम।

अन्त्य आगम : दवा > दवाई, सुध > सुधि, सभ > सभा, पिय > पिया।

[आदि स्वरागम को 'प्राग्व्यंजन' और 'पुरोहिति' तथा मध्य स्वरागम को 'स्वरभक्ति' और 'विप्रकर्ष' भी कहते हैं।]

(ख) व्यंजनागम : आदि आगम : औरंगजेब > नौरंगजेब, ओठ > होंठ।

मध्य आगम : दुख > दुक्ख, मिग > मिरग, समुद्र > समुन्दर।

अन्त्य आगम : रग > रगड़ (अरबी)।

(ग) अक्षरागम : आदि आगम : स गुन्ना > सगुन्नी

मध्य आगम : सामन्य > सलतन

(क) **स्वर-समीकरण** : जब समीकरण दो स्वरों में हो तब वह स्वर समीकरण कहलाता है। यदि पहला स्वर बाद के किसी स्वर को अपने समान बना लेता है तो उसे 'पुरोगामी' स्वर-समीकरण कहते हैं और यदि बाद का स्वर पहले स्वर को अपने समान बनाता है तो उसे 'पश्चगामी' स्वर-समीकरण कहते हैं; उदाहरण के लिए :

पुरोगामी समीकरण : अउर > अअर, खुरपी > खुरपी
पश्चगामी समीकरण : अगुलि > उँगुली।

(ख) **व्यंजन-समीकरण** : जब समीकरण दो व्यंजनों में हो तो वह व्यंजन-समीकरण कहलाता है। यदि पहला व्यंजन बाद के व्यंजन को अपने समान बनाता है तो उसे 'पुरोगामी व्यंजन-समीकरण' कहते हैं और यदि बाद का व्यंजन अपने से पहले व्यंजन को बदलकर अपने समान बनाता है तो उसे 'पश्चगामी व्यंजन समीकरण' कहते हैं। यह समीकरण यदि पास-पास के व्यंजनों में हो तो 'पार्श्ववर्ती समीकरण' कहलाता है और यदि दूर के व्यंजनों में हो तो दूरवर्ती समीकरण कहलाता है (स्वर-समीकरण में दूरवर्ती समीकरण के उदाहरण न मिलने के कारण पार्श्ववर्ती, दूरवर्ती भेद नहीं किए गए)। व्यंजन-समीकरण के ये विविध भेद इस प्रकार हैं :

पुरोगामी समीकरण . पार्श्ववर्ती : चक्र > चक्क, लग्न > लग्ग, वग्धी > बग्गी, कल्य > कल्ल (प्राकृत)
दूरवर्ती प्रजावती (संस्कृत) > प्रजापती (प्रजापति)

पश्चगामी समीकरण : पार्श्ववर्ती : दुग्ध > दुद्ध, कलक्टर > कलट्टर, धर्म > धम्म, दड > डड, जगत्नाथ > जगन्नाथ, आध सेर > आस्सेर, वक्कल > बक्कल।
दूरवर्ती : लकडबग्घा > बकडग्घा (बगडबग्घा)

(५) **विषमीकरण** : यह समीकरण से ठीक उल्टा है। जब दो समान ध्वनियों में से एक बदल जाए तब उसे विषमीकरण या असावर्ण्य कहते हैं। स्वर और व्यंजन के आधार पर इसके दो भेद हैं। यदि पहली ध्वनि बदलती है तो 'पश्चगामी विषमीकरण' होता है और यदि बाद की ध्वनि बदलती है तो 'पुरोगामी विषमीकरण' होता है, उदाहरणार्थ :

(क) **स्वर-विषमीकरण** . पुरोगामी : पुरुष > पुरिस
पश्चगामी : मुकुट (संस्कृत) > मउड (प्राकृत)

(ख) **व्यंजन-विषमीकरण** : पुरोगामी : काक > काग, कंकण > कंगन
पश्चगामी : लांगल > नांगल, दरिद्र > दलिद्दर।

(६) **मात्राभेद** · जब स्वर ह्रस्व से दीर्घ और दीर्घ से ह्रस्व हो जाता है तब इस मात्राभेद से भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है, जैसे :

ह्रस्व से दीर्घ : अंगुल > आँगुल, काग > कागा, तलाव > तालाब,
टिन > टीन, मित्र > मीत, गुरु > गुरू ।

दीर्घ से ह्रस्व : नारंगी > नरंगी, आलाप > अलाप, आमरस > अमरस,
कीड़ा > किड़ा (मराठी), दूल्हा > दुल्हा ।

(७) घोषीकरण : जब अघोष ध्वनियाँ सघोष हो जाती हैं तब उसे घोषीकरण कहते हैं, उदाहरण के लिए : प्रकट > प्रगट, कीट > कीड़ा, शती > सदी, बापू > बाबू, शकुन > सगुन, मकर > मगर ।

(८) अघोषीकरण : जब घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं तब उसे अघोषीकरण कहते हैं; उदाहरण के लिए, अरद > अरत, मस्जिद > मसजित, भाई > पाई (पंजाबी), खूबसूरत > खूपसूरत ।

(९) महाप्राणीकरण : जब अल्पप्राण ध्वनि महाप्राण हो जाती है तो उसे महाप्राणीकरण कहते हैं, जैसे वेष > भेष, किसमिस > खिसमीस (मराठी), गृह > घर ।

(१०) अल्पप्राणीकरण : जब महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण हो जाती है तो उसे अल्पप्राणीकरण कहते हैं, जैसे भगिनी > बहिन, *भोधामि > बोधामि, सिंधु > हिन्दु ।

(११) अनुनासिकता : किसी शब्द में यदि पहले से अनुनासिक ध्वनि न हो और उसमें अनुनासिक ध्वनि आ जाए तो उसे अनुनासिकता कहते हैं, जैसे : सर्प > साँप, अश्रु > आँसू, श्वास > साँस, सत्य > साँच, बाहु > बाँह ।

(१२) ऊष्मीकरण : कभी-कभी अनूष्म ध्वनियाँ ऊष्म हो जाती हैं । इसी को ऊष्मीकरण कहते हैं । उदाहरण के लिए, भारोपीय भाषावर्ग में केन्तुम् भाषाओं की 'क्' ध्वनि शतम् वर्ग की भाषाओं में ऊष्म ('स्') हो गई है ।

(१३) संधि : क्षिप्र भाषण के कारण कभी-कभी स्वर या व्यंजनों में संधि के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है । कभी-कभी कुछ व्यंजन स्वर के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे

नयन > नइन > नैन
मयूर > मउर > मोर
वचन > वइन > वैन
अवतार > अउतार > औतार
नवमी > नउमी > नौमी
पवध > पउध > पौध ।

(१४) भ्रामक व्युत्पत्ति : कभी-कभी दूसरी भाषा की ध्वनियों को ठीक प्रकार से न समझने के कारण अपनी भाषा की किसी ध्वनि के समान मानकर उसकी मनमाने ढंग से व्युत्पत्ति कर ली जाती है । इसके अन्तर्गत दूसरी भाषा की ध्वनियाँ अपनी भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल ली जाती हैं, जिसे भ्रामक व्युत्पत्ति कहते हैं । उदाहरण के लिए

अमीर-उल्-बहर (अरबी) (=समुद्र का राजा) > Admiral (अंग्रेजी),

इस्तबल (अरबी) > अस्तबल, लार्ड (अंग्रेजी) > लाट,
लाइब्रेरी (अंग्रेजी) > लायबरेरी, लार्ड (अंग्रेजी) > लाट।

ध्वनि-नियम

जब कोई क्रिया कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में समान रूप से होती है तो उसे 'नियम' कहते हैं। जिस प्रकार प्रकृति के अनेक कार्यों को देखकर कुछ सामान्य तथा विशेष नियम बनाए जाते हैं उसी प्रकार ध्वनियों में होनेवाले परिवर्तनों के आधार पर कुछ ध्वनि-नियम बनाए जाते हैं। नियमों में एकरूपता होती है इसलिए ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी एकरूपता जब अधिकांश स्थलों पर मिलती है तो उसके आधार पर ध्वनि-नियम स्थिर किए जाते हैं। किन्तु प्राकृतिक नियम और ध्वनि-नियम में अन्तर यह है कि 'ध्वनि-नियम' प्राकृतिक नियमों के समान सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक नहीं होते बल्कि उनका कार्यक्षेत्र सीमित और काल निश्चित होता है।

टी॰ जी॰ टकर ने 'ध्वनि-नियम' की परिभाषा देते हुए लिखा है, "A phonetic law of a language is a statement of the regular practice of that language at a particular time in regard to the treatment of a particular sound or group of sounds in a particular setting." अर्थात् किसी भाषा के ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी नियम से अभिप्राय उस कथन से है जिसमें किसी विशेष काल और विशेष परिस्थिति में उस भाषा के विशेष वर्ण या वर्ण-समूह में नियमित रूप से होनेवाले परिवर्तन का उल्लेख होता है। लगभग इसी प्रकार की परिभाषा डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने दी है, "किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं"। अर्थात् ध्वनि-नियम किसी भाषा-विशेष का होता है, उसे दूसरी भाषा पर लागू नहीं किया जा सकता, एक भाषा की भी सभी ध्वनियों पर वह लागू न होकर कुछ विशेष ध्वनियों या ध्वनि-वर्गों पर ही लागू होता है, इस ध्वनि-परिवर्तन का भी एक विशेष काल होता है जिसमें वह कार्य करता है। इतना ही नहीं अपितु किसी ध्वनि के परिवर्तित होने के लिए किसी विशिष्ट दशा या परिस्थिति की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार डॉ॰ पी॰ डी॰ गुणे के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि ध्वनि-नियम सर्वथा पूर्ण नहीं होते और उनमें देश-काल की सीमा होती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-नियम प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाषा-परिवार में अनेक होते हैं। इन सबमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है ग्रिम द्वारा प्रतिपादित नियम। यद्यपि इस नियम की ओर इहरे तथा रास्क पहले ही संकेत कर चुके थे परन्तु इसकी पूरी विवेचना और छानबीन ग्रिम ने ही की, इसीलिए यह उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रिम महोदय ने १८१९ ई॰ में जर्मन भाषा का व्याकरण छपवाया।

था। १८२२ में जब इस व्याकरण का दूसरा संस्करण निकला तो उसमें उन्होंने 'जर्मन भाषा का वर्णपरिवर्तन-सम्बन्धी नियम' (Lautverschiebung) प्रकाशित कराया। यही नियम आगे चल कर 'ग्रिम-नियम' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ग्रिम ने जिस रूप में अपने ध्वनि-नियम का प्रतिपादन किया उस रूप में उसे वैज्ञानिक नहीं माना गया, उसमें अनेक दोष ढूँढ़े गए और उसे 'सदोष' कहा गया। अतः अब जिस परिष्कृत रूप में उस नियम का भाषाविज्ञान में ग्रहण होता है उसी का परिचय दिया जाता है।

ग्रिम-नियम के दो भाग हैं—प्रथम वर्ण-परिवर्तन और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन। प्रथम वर्ण-परिवर्तन का उद्देश्य क्लासिकल वर्ग की भाषाओं का निम्न जर्मन वर्ग की भाषाओं से सम्बन्ध दिखाना है। यह वर्ण-परिवर्तन ईसा से बहुत पहले—निम्न जर्मन-वर्ग की भाषाओं के अलग-अलग विकसित होने से पहले ही—हो चुका था। द्वितीय वर्ण-परिवर्तन का उद्देश्य निम्न जर्मन-वर्ग की भाषाओं का उच्च जर्मन-वर्ग की भाषाओं से सम्बन्ध दिखाना है। यह दूसरा परिवर्तन उत्तरी जर्मनी में ऐंग्लो-सैक्सनों के पृथक् होने के उपरान्त ईसा की सातवीं शती के आस-पास हुआ। इसका विशेष सम्बन्ध केवल ट्यूटॉनिक भाषाओं से है।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन (कुछ स्पर्शों में)

इस प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भारोपीय भाषा के कुछ स्पर्श (व्यंजन वर्णों का एक भेद) परिवर्तित हो गए थे अर्थात् मूल भारोपीय के कवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के चतुर्थ, तृतीय, और प्रथम वर्ण निम्न जर्मन शाखा में क्रमशः तृतीय, प्रथम और द्वितीय हो जाते हैं, केवल द्वितीय वर्ण की ध्वनियाँ [illegible] हो जाती हैं। इसी बात को तालिका रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है

(क) मूल भारोपीय के घ् ध्, भ् निम्न जर्मन में [illegible] हुए।

(ख) मूल भारोपीय के ग् ,द्, ब् निम्न जर्मन में [illegible] हुए।

(ग) मूल भारोपीय के क्, त्, प निम्न जर्मन में [illegible] हुए।

उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। [illegible] में सुरक्षित है तथा अंग्रेजी निम्न-जर्मन वर्ग [illegible] मूल भारोपीय तथा निम्न-जर्मन के [illegible] उदाहरण ले रहे हैं :

(क) घ् ध भ्	[illegible]	[illegible]
घन	[illegible]	[illegible]
विधुर	[illegible]	[illegible]
भ्रू	[illegible]	[illegible]

इस नियम को निम्नांकित त्रिकोण द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है :

इस त्रिकोण में यदि किसी भी कोण पर प्रदर्शित वर्णों को हम मूल भारोपीय का मान लें तो बाण-चिह्न का अनुसरण करने पर दूसरे कोण पर प्रदर्शित वर्ण निम्न जर्मन-वर्ण के होंगे।

द्वितीय वर्ण परिवर्तन

दूसरे वर्ण-परिवर्तन में ग्रिम ने निम्न जर्मन तथा उच्च जर्मन में हुए परिवर्तन समझाए। उनके अनुसार दूसरा वर्ण-परिवर्तन इस प्रकार हुआ :

निम्न जर्मन		उच्च जर्मन
ग् द् ब्	से	क् त् प्
क् त् प्	से	ख् (ह्) त्स् फ्
ख् (ह्) थ् फ् घ् ध् भ्	से	ग् द् ब्

इसी बात को उपर्युक्त त्रिकोण से इस प्रकार समझाया जा सकता है कि उसमें किसी भी कोण पर प्रदर्शित वर्ण को यदि मूल भारोपीय का मान लें तो बाण-चिह्न की दिशा में दूसरे कोण के वर्ण 'प्रथम वर्ण-परिवर्तन' के और अन्तिम कोण के वर्ण 'द्वितीय वर्ण-परिवर्तन' के सूचक हैं।

इस प्रकार यह नियम बहुत सुलझा हुआ प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में स्वयं ग्रिम भी इस नियम के सभी उदाहरण न जुटा सके। इस नियम के अपवाद इतने अधिक थे कि दूसरा वर्ण-परिवर्तन अवैज्ञानिक प्रतीत हुआ। टकर ने अपनी पुस्तक 'इंट्रोडक्शन टु नेचुरल हिस्ट्री ऑफ लैंग्वेज' में इन दोनों परिवर्तनों को कुछ इस प्रकार दिखलाया है (× का चिह्न उदाहरण न मिलने का सूचक है):

मूल भारोपीय	निम्न जर्मन	उच्च जर्मन
घ् ध् भ्	ग् द् ब्	×, त्, ×
ग् द् ब्	क् त् प्	×, त्स्/स्स्/रत्स्, फ्/प्फ्
क् त् प्	ख् (ह्) थ् फ्	×, द्/स्त्, ×
GH, DH, BH	G, D, B	×, T, ×
G, D, B	K, T, P	×, z/ss/sz, F/Pf
K, T, P	KH (H), TH, PH	×, D/ST, ×

इस प्रकार ग्रिम के इन दोनों नियमों में से प्रथम वर्ण-परिवर्तन को ही स्वीकार किया गया, यद्यपि उसमें भी बहुत-से अपवाद पाए गए। इनके समाधान के लिए कई नियमों और उपनियमों का पता लगाया गया। स्वयं ग्रिम ने भी इस नियम से सम्बन्धित कुछ आपत्तियों का समाधान करते हुए उपनियम बनाए, शेष को ग्रिम के परवर्ती विद्वान् ग्रासमान तथा वर्नर ने समझाया। ग्रिम, ग्रासमान, तथा वर्नर के ये उपनियम वस्तुतः 'ग्रिम-नियम' के ही पूरक हैं।

ग्रिम का उपनियम

ग्रिम-नियम केवल असंयुक्त वर्णों में लगता है, संयुक्त वर्णों में नहीं, अतः मूल भारोपीय के †स्क्, †स्त्, †स्प् के क् त् प् में स् के संयोग के कारण कोई विकार नहीं होता। इसी प्रकार मूल भारोपीय के †क्त् और †प्त् में भी त् अविकृत रहता है, जैसे 'अष्टौ' से Acht (अख्ट) तथा 'नप्ता' से Nift (निफ्ट)।

ग्रासमान का उपनियम

कुछ अपवादों का समाधान ग्रासमान ने किया। ग्रिम-नियम के अनुसार मूल भारोपीय (या संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि क्लासिकल भाषाओं) के ग् द् ब् निम्न जर्मन में क्रमशः क् त् प् होने चाहिए परन्तु कुछ उदाहरणों में ग द ब अपरिवर्तित पाए जाते हैं, जैसे संस्कृत 'बन्ध्' से अंग्रेजी 'Bind', संस्कृत 'दभ' से गॉथिक Daube। इनमें ब् द् क्रमशः प् त् में परिवर्तित होने के स्थान पर ब् द ही रह गए। इन अपवाद प्रतीत होनेवाले उदाहरणों के समाधान के लिए संस्कृत और ग्रीक भाषाओं के विद्वान् हर्मन ग्रासमान ने बताया कि ऐसे स्थानों पर संस्कृत आदि क्लासिकल भाषाओं में प्राप्त व्यंजन-ध्वनि मूल भारोपीय की व्यंजन-ध्वनि का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि स्वयं परिवर्तित हो गई है। उदाहरणार्थ, 'बन्ध्' और 'दभ्' का मूल भारोपीय रूप †भेन्ध् तथा †धभ् था। इस दृष्टि से देखें तो अंग्रेजी Bind तथा गॉथिक Daube मूल

श्रुति (Glide)—जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उच्चारण में दो शब्दों या दो ध्वनियों के बीच एक को समाप्त करने के बाद और दूसरे के प्रारम्भ होने से पहले झटके से एक विकार पैदा किया जाता है। इसी प्रकार बोलने में मुख के उच्चारणावयव जब एक ध्वनि का उच्चारण करने के बाद दूसरी का उच्चारण करने के लिए नई स्थिति में आते हैं तो कभी कभी हवा के निकलते रहने के कारण बीच में ही एक ऐसी ध्वनि उच्चरित हो जाती है जो वस्तुतः उस शब्द में सम्मिलित नहीं होती। ऐसी प्रयास-जन्य उत्पन्न ध्वनि को 'श्रुति' कहते हैं।

श्रुति शब्द की ध्वनियों के बीच में ही नहीं, कभी-कभी ध्वनि से पहले भी होती है। इस प्रकार पहले आनेवाली श्रुति को 'पूर्व-श्रुति' कहते हैं, जैसे 'इस्कूल', 'इस्टेशन' में आरम्भ के स्वर 'पूर्व-श्रुति' के कारण हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने 'पूर्व-श्रुति' के अतिरिक्त श्रुति के दो भेद और माने हैं—'मध्य-श्रुति, तथा 'पर-श्रुति'। यदि श्रुति एक ही शब्द की दो ध्वनियों के मध्य है तो मध्य-श्रुति कहलायेगी, जैसे 'देना' बोलते समय 'देयना' कहने में 'य' मध्य-श्रुति है। इसी प्रकार यदि श्रुति शब्द के अन्त में है तो 'पर-श्रुति' कहलायेगी। हिन्दी के संयुक्त व्यंजनान्त शब्दों के अन्त में बहुत धीमी-सी सुनाई पड़नेवाली 'अ' ध्वनि 'पर-श्रुति' का उदाहरण है, जैसे 'ब्रह्म' का अन्त्य 'अ'।

श्रुति असावधान या आलस्यपूर्ण उच्चारण में अधिक स्पष्ट होती है। श्रुति के कारण शब्द में एक प्रकार की वृद्धि हो जाती है।

अपश्रुति या अक्षरावस्थान (Ablaut)—अपश्रुति का पता सबसे पहले जर्मन विद्वानों ने १८१९ ई० में लगाया था। 'अपश्रुति' का अंग्रेजी पर्याय (Ablaut) मूलतः जर्मन भाषा का है जिसका अर्थ है 'स्वरध्वनि का परिवर्तन'। 'अपश्रुति' शब्द प्रसिद्ध भारतीय भाषाशास्त्री डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी की देन है। भारोपीय परिवार की प्राचीन भाषाओं में 'अपश्रुति' का बहुत महत्त्व था जिसका अवशेष ग्रीक, संस्कृत आदि भाषाओं में अब भी मिलता है। सामी और हामी भाषा-परिवारों में भी अपश्रुति का विपुल प्रयोग मिलता है।

जब किसी शब्द में व्यंजनों के यथावत् रहते हुए भी केवल स्वर-परिवर्तन से रूप-परिवर्तन और अर्थ-परिवर्तन हो जाता है तो उसे अपश्रुति (Ablaut) या अक्षरावस्थान कहते हैं। यह परिवर्तन वचन, काल, लिंग किसी में भी हो सकता है; उदाहरण के लिए :

वचन-परिवर्तन—	फुट (एक पैर)	फीट (अनेक पैर)	(अंग्रेजी)
	हिमार (गधा)	हमीर (गधे)	(अरबी)
	घोड़ा	घोड़े	(हिन्दी)
काल-परिवर्तन—	रिंग (Ring) रैंग (Rang) रंग (Rung)		(अंग्रेजी)
लिंग-परिवर्तन—	राम	रमा	(हिन्दी)

अपश्रुति बलाघात या स्वराघात के ... परिमाणीय या मात्रिक अपश्रुति, और गुणीय अपश्रुति। परिमाणीय अपश्रुति वह है जिसमे स्वर तो वही रहता है किन्तु उसकी मात्रा मे परिवर्तन हो जाता है; अर्थात् स्वर ह्रस्व से दीर्घ या दीर्घ से ह्रस्व हो जाता है, जैसे—मिलना/मिलाना। इस प्रकार स्वर की केवल मात्र बदलने से रूप और अर्थ मे होनेवाला परिवर्तन मात्रिक अपश्रुति कहलाता है। गुणीय अपश्रुति वह है जिसमे पहलेवाला स्वर हट जाता है और उसके स्थान पर नवीन स्वर आ जाता है, जैसे मिला/मिली।

अपिनिहिति—डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी तथा डॉ तारापुरवाला के अनुसार अपिनिहिति एक प्रकार का स्वरागम है किन्तु इस प्रकार के स्वरागम के लिए यह आवश्यक है कि शब्द मे आनेवाले स्वर की प्रकृति का कोई स्वर या अर्द्धस्वर उस शब्द मे पहले से विद्यमान हो। यदि संस्कृत और अवेस्ता का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि अपिनिहिति अवेस्ता की प्रमुख विशेषता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत Bharatı (भवति) से अवेस्ता मे Bavaiti (बवइति) बनता है। Bavaiti में t से पूर्व 'इ' (ı) का आना अपिनिहिति है क्योंकि 'इ' (ı) की ध्वनि (t के पश्चात्) पहले से भी विद्यमान थी। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि किसी शब्द मे यदि कोई ऐसा स्वर आ जाए जिसकी प्रकृति का स्वर या अर्द्धस्वर पहले से विद्यमान हो तो उ... स्वरागम को अपिनिहिति कहेगे। इस प्रकार का स्वर प्राय आदि या मध्य मे आ... है और इस प्रकार अपिनिहिति के दो भेद—आदि अपिनिहिति, मध्य अपिनिहिति—किए जा सकते हैं उदाहरणार्थ :

आदि अपिनिहिति – स्थिति > इस्थिति (उच्चारण मे)

(स०) रिष्यति (Rısyatı) > (अवेस्ता) इरिष्ये... (Irisye-ıt...

मध्य अपिनिहिति—(अंग्रेजी) Goldsmith > Goldısmith (उच्चारण...

समान प्रकृति के स्वर के आगम के कारण इसे 'सम स्वरागम' भी कहते... किन्तु स्वरागम से यह स्पष्टतः भिन्न है। स्वरागम मे यह आवश्यक नही होता जिस स्वर का आगम हो रहा है उस प्रकृति का कोई स्वर पहले मे विद्य... हो किन्तु अपिनिहिति के लिए यह परमावश्यक है। तारापुरवाला ने केवल... अपिनिहिति को स्वीकार किया है, आदि अपिनिहिति को नही। उनके अनु... आदि मे स्वरागम होने पर यह आवश्यक नही है कि उसकी प्रकृति का कोई... पहले से हो किन्तु अवेस्ता मे जो उदाहरण मिलते हैं उनसे तारापुरवाला... मान्यता का समर्थन नही होता। मध्य-स्वरागम और मध्य-अपिनिहिति मे इस... से भेद है कि मध्य-स्वरागम मे स्वर आकर संयुक्त व्यञ्जनों को अलग-अलग कर देता... जैसे राजेन्द्र > राजेन्दर, किन्तु मध्य-अपिनिहिति मे यह आवश्यक नहीं।

अभिश्रुति (Umlaut)—अभिश्रुति जर्मन वर्ग की भाषाओं म बहुत मि... है और अभिश्रुति का अंग्रेजी पर्याय उम्लाट (Umlaut) जर्मन विद्वान् ग्रिम द्वारा ...

[illegible] स्वर या अर्द्धस्वर [illegible] है, जैसे मनि (Mani) > [illegible] (M[illegible]) [illegible] में [illegible] है और [illegible] [illegible] का [illegible] है, किन्तु जब अभिनि-[illegible] के [illegible] a को भी [illegible] e के रूप में बदल जाती है [illegible] अभिश्रुति का अर्थ है 'अभिनिहित के [illegible] का [illegible]। [illegible] अभिश्रुति प्राकृतों में भी मिलती है। [illegible] हिन्दी में अभिश्रुति विशेष रूप से [illegible] है।

[illegible] 'पश्चगामी स्वर समीकरण' की अभिश्रुति [illegible] है। किन्तु दोनों में अन्तर [illegible] है। पश्चगामी स्वर समीकरण में प्रभावित करनेवाला स्वर [illegible] है, [illegible] अभिश्रुति में प्रभावित करनेवाला स्वर भी बना रहता है।

क्लिक ध्वनि—[illegible] ध्वनि तब उत्पन्न होती है जब फेफड़ों से [illegible] श्वास-वायु मुख-द्वार या और नासिका-विवर से बाहर निकलती है अर्थात् ध्वनि के उत्पन्न होने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि श्वास वायु मुख-मार्ग से बाहर निकले, किन्तु संसार की विभिन्न भाषाओं में कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी हैं जिनके उच्चारण के समय श्वास भीतर को खींचा जाता है। ऐसी ध्वनियाँ 'क्लिक् ध्वनि' कहलाती हैं। हिन्दी में इन्हें 'अन्तर्मुखी द्विस्पर्शी' कहते हैं क्योंकि इनके उच्चारण में मुख में दो स्थानों पर स्पर्श होता है। इन ध्वनियों (क्लिक ध्वनियों) का उच्चारण अन्य ध्वनियों के समान जोर से नहीं किया जा सकता। क्लिक् ध्वनियों का विश्लेषण भी कठिन होता है।

कुछ विद्वानों के अनुसार प्रागैतिहासिक काल में बहुत-सी क्लिक् ध्वनियाँ थीं जो धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। अब दक्षिण अफ्रीका के बुशमैन भाषा-परिवार की भाषाओं में क्लिक् ध्वनियाँ बहुतायत से मिलती हैं। भारोपीय भाषाओं में भी कुछ क्लिक् ध्वनियाँ मिलती हैं। चुम्बन की प्रचलित ध्वनि विश्व की लगभग सभी भाषाओं में 'क्लिक् ध्वनि' ही है। अंग्रेजी में We love के लिए Karomp शब्द है जिसमें P का योग क्लिक् ध्वनि के कारण माना जाता है। इसी प्रकार घृणा, ग्लानि, विस्मय के समय भी बोल-चाल में कभी-कभी क्लिक् ध्वनि का उच्चारण होता है। फ्रेंच में सन्देह व्यक्त करने के लिए T की एक ध्वनि 'क्लिक् ध्वनि' है।

हिन्दी में भी अनेक क्लिक् ध्वनियाँ बोली जाती हैं। काँटा चुभने पर जिस पीड़ा व्यंजक 'सी' का उच्चारण होता है वह क्लिक् है। अनुचित या शोकप्रद बात को सुनकर या देखकर मुख से जो च् च् च् च् निकलता है वह भी कुछ कुछ 'क्लिक् ध्वनि' से मिलता-जुलता है। ताँगेवाले की 'टिक् टिक्' में भी कुछ 'क्लिक्' आभास है। सिंधी भाषा की 'ब' ध्वनि भी क्लिक् है।

क्लिक् ध्वनियों के अध्येता एक पादरी के अनुसार इन ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग करनेवाला व्यक्ति बोलते समय कुत्ते के समान भूंकता-सा प्रतीत होता है।

कायमोग्राफ—कायमोग्राफ एक यन्त्र है जिसका उपयोग ध्वनियों के अध्ययन के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग पहले केवल डाक्टर करते थे किन्तु १८७६ ई० में रोजापेल्ली ने इसका प्रयोग भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए किया और तब से यह ध्वनि-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण हो गया है।

इस यन्त्र मे एक नली होती है जिसे मुख मे लगाया जाता है। दूसरे छोर पर एक गोल डिब्बा-सा होता है जिस पर कागज लिपटा होता है। यह डिब्बा बिजली की सहायता से घूमता है और नली के सहारे आनेवाली ध्वनियाँ एक सुई के द्वारा इस काले कागज पर अंकित होती रहती है। इन ध्वनियो का अंकन विभिन्न रेखाओं के रूप मे होता है। अघोष ध्वनियो के लिए सीधी रेखाएँ बनती हैं और घोष ध्वनियो के लिए कम्पन के कारण लहरदार। इन रेखाओ के अधिक सीधे और कम सीधे होने से अल्पप्राण और महाप्राण का भेद जाना जाता है। स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, पार्श्विक आदि ध्वनियो की लहरो मे भी सूक्ष्म अंतर रहता है। अनुनासिकता जानने के लिए एक अलग नली नाक में लगाई जाती है। समय की मात्रा जानने के लिए एक अलग नली का प्रयोग किया जाता है जिसकी सुई एक सेकिंड मे सौ चिह्न बनाती है जिसके देखने से पता चलता है कि ध्वनि दीर्घ है या लघु। संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात का अंतर भी इस यन्त्र से विदित हो जाता है।

आधुनिक युग में कायमोग्राफ के कुछ नए प्रकार भी चल गए हैं, जैसे एलेक्ट्रो कायमोग्राफ, कोमोग्राफ, मिंगोग्राफ, इंक राइटर आदि।

रूपविचार

डॉ० सुरेशचन्द्र त्रिवेदी

रूप-विचार

Morphology के लिए हिन्दी में रूपविचार, रूपविज्ञान, पद-विज्ञान, रचना-विज्ञान, आकृति विज्ञान आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं। रूप-विचार अर्थात् पद-विज्ञान भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा है। ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान, तथा वाक्य-विज्ञान भाषाविज्ञान की अन्य शाखाएँ हैं।

रूप-विचार का प्रतिपाद्य

रूपविचार का प्रतिपाद्य है 'रूपतत्त्व'। अतः इसके अध्ययन के अन्तर्गत रूपतत्त्व क्या है? पद और शब्द में क्या भेद है? पदरचना कैसे होती है? अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पारस्परिक संबंध क्या है? रूपतत्त्व का क्या महत्त्व है? सम्बन्ध-तत्त्व का कार्य क्या है? रूपविकार किन कारणों से होता है? रूपविकार की दिशाएँ कौन-सी हैं? शब्दों का आगम, लोप, और विपर्यय कैसे होता है? आदि अनेक जिज्ञासाओं का समाधान ढूँढने व प्रश्नों के उत्तर खोजने का यत्न किया जाता है।

रूप-तत्त्व क्या है?

मनुष्य की प्रत्येक सार्थक भाषिक अभिव्यक्ति करने में दो तत्त्व समाविष्ट किए हुए होती है—शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व। उदाहरणार्थ 'राम आम खाता है', वाक्य में राम, आम, और खाना शब्दों से क्रमशः एक व्यक्ति, एक पदार्थ, और एक क्रिया का बोध होता है। यह इस भाषिक अभिव्यक्ति का अर्थ-तत्त्व या अर्थांश है। जिन शब्दों से हम व्यक्ति, पदार्थ, व क्रिया का बोध होता है, वे इस भाषिक अभिव्यक्ति के शब्द-तत्त्व या शब्दांश हैं। भाषा का संबंध उसके विचारपक्ष से और स्वरूपतः उसके अभि-व्यक्ति-पक्ष से संबद्ध है, और ये दोनों पक्ष उभयतः संश्लिष्ट व परस्पर संपृक्त भी हैं। यही कारण है कि भाषा के अभाव में या उसकी सहायता के बिना हम विचार का कार्य नहीं कर सकते और न ही भाषा भी विचार की अनुपस्थिति में कुछ अभि-

क्लिक् ध्वनियों के अध्येता एक पादरी के अनुसार इन ध्वनियों का प्रचुर प्रयोग करनेवाला व्यक्ति बोलते समय कुत्ते के समान भूँकता-सा प्रतीत होता है।

कायमोग्राफ—कायमोग्राफ एक यन्त्र है जिसका उपयोग ध्वनियों के अध्ययन के लिए किया जाता है। इसका प्रयोग पहले केवल डाक्टर करते थे किन्तु १८७६ ई० मे रोजापेल्ली ने इसका प्रयोग भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए किया और तब से यह ध्वनि-विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण हो गया है ।

इस यत्र मे एक नली होती है जिसे मुख मे लगाया जाता है। दूसरे छोर पर एक गोल डिब्बा-सा होता है जिस पर कागज लिपटा होता है। यह डिब्बा बिजली की सहायता से घूमता है और नली के सहारे आनेवाली ध्वनियाँ एक सुई के द्वारा इस काले कागज पर अंकित होती रहती है। इन ध्वनियो का अंकन विभिन्न रेखाओं के रूप में होता है। अघोष ध्वनियो के लिए सीधी रेखाएँ बनती हैं और घोष ध्वनियों के लिए कम्पन के कारण लहरदार। इन रेखाओं के अधिक सीधे और कम सीधे होने से अल्पप्राण और महाप्राण का भेद जाना जाता है। स्पर्श, स्पर्श-संघर्षी, पार्श्विक आदि ध्वनियो की लहरो मे भी सूक्ष्म अंतर रहता है। अनुनासिकता जानने के लिए एक अलग नली नाक में लगाई जाती है। समय की मात्रा जानने के लिए एक अलग नली का प्रयोग किया जाता है जिसकी सुई एक सैकिंड मे सौ चिह्न बनाती है जिसके देखने से पता चलता है कि ध्वनि दीर्घ है या लघु। संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात का अंतर भी इस यत्र से विदित हो जाता है।

आधुनिक युग में कायमोग्राफ के कुछ नए प्रकार भी चल गए हैं, जैसे एनेक्ट्रो कायमोग्राफ, कोमोग्राफ, मिंगोग्राफ, इक राइटर आदि ।

[illegible] के द्वारा स्पष्ट हुआ है यथा— 'तु' 'अम्' 'ति' और 'त्' । ये प्रत्यय क्रमशः 'मात्' 'अश्व' 'दाम' और 'रज्जि' से [illegible] वाक्य में प्रयुक्त इन शब्दों का स्वरूप व निर्देश स्पष्ट करते हैं । हरि [illegible] है, हरि घोड़ा बाँधने की क्रिया करता है, घोड़ा बाँधा जाता है, और रस्सी ([illegible]) के [illegible] से यह घोड़ा बाँधा जाता है । 'तु,' 'अम्' 'ति' और 'त्' ये चार प्रकट चिह्न हैं, जिनके द्वारा इन शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है । इन्हें सम्बन्धतत्त्व कहते हैं ।

कभी-कभी वाक्य में यह सम्बन्धतत्त्व प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं भी रहता और फिर भी वहाँ उसका अभाव नहीं माना जाता, यथा हिन्दी के इस वाक्य में 'राम रोटी खा' ।

इस वाक्य में सम्बन्धतत्त्व के प्रकट रूप से अविद्यमान रहने पर भी कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि का अर्थ बहुत स्पष्ट है । भाषाविज्ञान की भाषा में इसे यों प्रस्तुत किया जाएगा :

राम = राम $+ \phi$ = राम = कर्त्ता [निर्विभक्तिक]

रोटी = रोटी $+ \phi$ = रोटी = कर्म [निर्विभक्तिक]

खा = खाना $+ \phi$ = खा – आज्ञार्थ [निर्विभक्तिक]

रूपतत्त्व का स्वरूप

'रूपतत्त्व' या 'सम्बन्धतत्त्व' को अंग्रेजी में Morpheme कहते हैं । हिन्दी में 'रूपमात्र', 'रूपग्राम' आदि इसके अन्य पर्याय हैं ।

अब यहाँ 'रूप-तत्त्व' की प्रमुख विशेषताएँ जान लेना बहुत आवश्यक है :

(i) 'रूपतत्त्व' भाषा-गठन की लघुतम सार्थक इकाई है, जिसका आगे विश्लेषण करने पर अर्थ नष्ट हो जाता है,[1] जैसे बेटा, पति, पत्नी आदि । इन शब्दों का विभाजन करने पर अर्थ बिलकुल खत्म हो जाएगा ।

(ii) 'रूपतत्त्व' अक्षर का स्थानापन्न, पर्यायवाची, या समानांतर नहीं होता ।[2] उदा० अंग्रेजी Goes में Go और es दो रूपतत्त्व हैं परन्तु दोनों से मिलकर बना Goes एक शब्द या अक्षर है । हिन्दी में 'खाता है' इसका उदाहरण हो सकता है ।

(iii) 'रूपतत्त्व' केवल एक ध्वनि का भी हो सकता है ।[3]

उदाहरणार्थ, लड़का — लड़के = लड़का + ए,/ए ।

घोड़ा — घोड़े = घोड़ा + ए,/ए ।

यहाँ पर 'ए' बहुवचन बनानेवाला एकध्वनीय रूपतत्त्व है । परन्तु यह भ्रम

---

१ An Introduction to Descriptive Linguistics, H. A. Gleason Jr, Page 53.

२ वही

३ वही

के मन में आया है। अब यदि इन्हें प्रकृति के पूर्व करदिया जाए तो 'ए लड़का', 'ए बेटा', 'ता मनुष्य', और 'पन लड़का' शब्दों का क्या कोई अर्थ है ?

(viii) कुछ भाषाओं में वाक्य-रचना की व्यवस्था रूपतत्त्वों के क्रम का थोड़ा-बहुत व्यतिक्रम सह लेती है। कुछ में व्यतिक्रम की कोई चिन्ता नहीं, कुछ में व्यतिक्रम अर्थ का अनर्थ कर देता है। उदाहरणार्थ :

१. Then I went इस वाक्य को I went then के रूप में तो लिखा या बोला जा सकता है परन्तु Went then I अथवा then went I के रूप नहीं लिखा या बोला जा सकता।

२. 'बालकः पुस्तकं पठति' इस वाक्य को 'पुस्तकं पठति बालकः', 'पठति बालकः पुस्तकं'; 'पुस्तकं बालकः पठति' किसी भी रूप में लिखिए या बोलिए कोई चिन्ता नहीं।

३. 'आपको मुझे पाँच रुपए देने हैं।' इस वाक्य को यदि आप 'मुझे आपको पाँच रुपए देने हैं।' कर दें तो अर्थ बदल जाएगा। इसी प्रकार Ram Killed Ravan को Ravan Killed Ram करने पर भी अर्थ बदल जाएगा। चीनी का उदाहरण 'नी ता ग्वो' (तुम मुझे मारते हो) / 'ग्वो ता नी' (मैं तुम्हें मारता हूँ) इस बात के लिए प्रसिद्ध है ही।

(ix) रूपतत्त्व का व्यापकतम भाग है धातुएँ व प्रत्यय।[1] धातु और प्रत्ययों की सहायता से शब्द-निर्माण व रूप-निर्माण का कार्य चला करता है।

प्रत्यय-विचार

'प्रत्यय' के लिए अंग्रेजी में 'Affixes' शब्द का प्रयोग होता है। प्रकृति के पूर्व लगनेवाले प्रत्यय उपसर्ग (Prefixes) और अन्त में लगनेवाले प्रत्यय पर-सर्ग या 'अनुग' (Suffixes) कहलाते हैं। प्रकृति के मध्य में लगनेवाले प्रत्यय 'मध्यग' (Infixes) कहलाते हैं।

पूर्वप्रत्यय—प्रकृति (धातु) के पूर्व लगकर शब्द-निर्माण व रूप-निर्माण करने वाले प्रत्यय 'पूर्व-प्रत्यय' अथवा 'उपसर्ग' कहलाते हैं यथा—वि+जय=विजय परा+जय=पराजय, अभि+यान=अभियान। एक ही धातु 'हृ' से उपसर्गों की सहायता से संहार, विहार, आहार आदि शब्द बनते हैं।

मध्यप्रत्यय—प्रकृति के मध्य में लगकर शब्द-निर्माण व रूप-निर्माण का कार्य करनेवाले प्रत्यय 'मध्यग' कहलाते हैं। [illegible] भाषा में इसका [illegible] है। [illegible]=[illegible], [illegible]=[illegible], [illegible] बहुवचन [illegible]। इसी प्रकार [illegible]=[illegible], [illegible] दूसरे को [illegible]। [illegible] की स्थिति भी ऐसी ही प्रतीत होती है।

---

1. An Introduction to Descriptive Linguistics, H. A. Gleason Jr. Page 58

न होना चाहिए कि केवल, अकेला और अकेले में क्रमशः आदि, मात्र, और अ में प्रयुक्त 'ल' भी रूपान्तर है।

(iv) कभी कभी आकार या ध्वनि की दृष्टि से समान प्रतीत होने पर भी अर्थ की दृष्टि से दो रूपग्राम भिन्न होते हैं।[1] ऐसे रूपग्रामों को 'समध्वनीय' कहते हैं। उदाहरणार्थ,

१ लिखा।
२ देखा।
३ ले आ।
४ खा आ।

उदाहरण संख्या १ और २ में भी 'आ' रूपान्तर है और ३-४ में भी। परंतु प्रथम दो में यह भूतकालिक अर्थ में प्रयुक्त है और अंतिम दो में आज्ञार्थ में।

(v) किसी एक भाषा के विविध उदाहरणों में तुलना करने पर जब कभी ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से समानता दिखाई पड़े तो उनमें उस समान अंश को रूपान्तर की संज्ञा दी जा सकती है।[1] उदाहरणार्थ, खाना-खाया, जाना-गया, सोना-सोया, और पीना-पिया—में चारों स्थानों पर अर्थ व ध्वनि की दृष्टि से 'या' समानता रखता है और भूतकाल की व्यंजना करता है। अतः यह रूपान्तर है।

(vi) कुछ रूपग्राम ऐसे भी होते हैं जिनका भाषीय व्यवहार के बाहर मानव-अनुभूति के संदर्भ में अर्थ पूर्णतः या अधिकांशतः अनुपस्थित ही पाया जाता है।[2] उदाहरणार्थ, I Want to go अंग्रेजी के इस वाक्य में to का क्या अर्थ है? भाषिक अभिव्यक्ति में अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर तथा इसके अभाव में अभिव्यक्ति के अस्पष्ट हो जाने की संपूर्ण संभावना होने पर भी इस to का अर्थ करना बड़ा कठिन है। इस to को निकाल दीजिए। I want go अब इस वाक्य का क्या अर्थ है? 'आप आइएगा न?' इस वाक्य में 'न' की भी यही स्थिति है। प्रायः सभी भाषाओं में कुछ-न-कुछ रूपतत्व ऐसे होते ही हैं। संदर्भविशेष को छोड़कर ये अपनी विशिष्ट व्यंजना खो देते हैं। 'गाड़ी चल दी क्या?' वाक्य में 'क्या' की भी यही स्थिति है। 'मैं घर जाऊँगा' और 'मैंने बिल्ली देखी।' इन दो वाक्यों में रेखांकित शब्द यदि अपना-अपना संदर्भ छोड़कर परस्पर व्यतिक्रम कर लें तो अर्थ नष्ट हो जाएगा।

(vii) कुछ वाक्य-रचनाएँ ऐसी होती है जिन में रूप तत्वों की उपस्थिति मात्र ही आवश्यक नहीं होती, उनका सुनिश्चित व्यवस्थित क्रम भी आवश्यक रहता है जिसके अभाव में अर्थ नष्ट हो जाता है।[3] उदा० लड़के, बेटे, मनुष्यता, लड़कपन आदि में ए, ता, पन रूपतत्वों का स्थान क्रमशः लड़का, बेटा, मनुष्य, लड़का आदि

---

१ An Introduction to Descriptive Linguistics, H. A. Gleason Jr. P. 54
२ वही P. 56
३ वही P. 55
४ वही

रूपतत्त्व का ही एक अंश या अंग है 'संरूप', जिसे अंग्रेजी में Allomorph कहते हैं।[१] किसी एक रूपतत्त्व के ही दो या दो से अधिक परस्पर अविरोधी एवं अर्थ की दृष्टि से समान अंशों या अंगों को 'संरूप' कहते हैं, उदाहरणार्थ,

(१) Books, Rats, Cats = s = स

(२) Flies, Eyes, Dogs = z = ज़

(३) Boxes, Roses = iz = इज़

इनमें (१) उदाहरणों में बहुवचन-बोधक प्रत्यय s है, उदाहरण (२) में भी s है, और उदाहरण (३) में भी es और s है। प्रथम में उसका उच्चारण 'स'; दूसरे में 'ज़' और तीसरे में 'इज़' है। अर्थ की दृष्टि से तीनों समान हैं और परस्पर अविरोधी भी। तीनों बहुवचन-निर्माण करते हैं। जहाँ एक होगा, दूसरा नहीं आयेगा। अतः ये तीनों 'स' 'ज़' और 'इज़' संरूप कहलाएँगे। हिन्दी में पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने तथा एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए निर्धारित प्रत्यय-व्यवस्था में 'संरूप' दिखाई पड़ते हैं। यथा रातें, बातें, लातें में 'एँ' तथा लड़के, बछड़े, घोड़े में 'ए'।

---

१. "An allomorph is a variant of a morpheme which occurs in certain definable environment."

'An Introdution to Descriptive Linguistics',
by H. A. Gleason Jr, Page 61.

अन्त्य प्रत्यय—प्रकृति के अंत में लगकर शब्द-निर्माण व रूपनिर्माण कार्य करनेवाले प्रत्यय 'अंत्य प्रत्यय' कहलाते हैं; यथा—पशु+त्व=पशुत्व, लड़का+पन=लड़कपन, चिल्लाना+हट=चिल्लाहट आदि। रचना व प्रयोग की दृष्टि से रूपतत्त्व (प्रत्यय) के तीन भेद किए जाते हैं: मुक्त, बद्ध, और बद्ध-मुक्त। मुक्त रूपतत्त्व वे हैं जो स्वतंत्र अर्थतत्त्वों से निर्मित होते हैं, जैसे घण्टा+घर=घण्टाघर, सिनेमा+घर=सिनेमाघर, चिड़िया+घर=चिड़ियाघर आदि। बद्ध रूपतत्त्व वे हैं जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता; यथा—लड़की, टोकरी, आजादी में 'ई'। बद्ध-मुक्त रूपतत्त्व वे हैं जो मुक्त होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से शब्द-निर्माण या रूप-निर्माण में असमर्थ होते हैं, जैसे ने, को, से आदि विभक्ति प्रत्यय। संयुक्त और मिश्रित—रूप तत्त्व के दो अन्य भेद हैं। जब एक से अधिक रूपतत्त्व मिलकर शब्द-निर्माण करें तब संयुक्त रूपतत्त्व कहलाते हैं। जैसे बह+आ=उगता। जब एक से अधिक अर्थतत्त्व मिलकर शब्द-निर्माण करें तब मिश्रित रूपतत्त्व बनते हैं यथा रसोईघर।

अर्थ व कार्य की दृष्टि से रूपतत्त्व के दो भेद हैं—अर्थदर्शी और सम्बन्धदर्शी। अर्थदर्शी रूपतत्त्वों का कार्य अर्थ स्पष्ट करना है, जबकि सम्बन्धदर्शी रूपतत्त्वों का कार्य सम्बन्ध स्पष्ट करना है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, धातु, क्रिया आदि अर्थदर्शी रूपतत्त्व हैं, उपसर्ग व प्रत्यय सम्बन्धदर्शी।

विभाज्यता के विचार से रूपतत्त्वों के 'खंड रूपतत्त्व' और 'अखंड रूपतत्त्व'—दो भेद किए जाते हैं। खंड रूपतत्त्वों को अलग किया जा सकता है। टोकरी, लड़की आदि में 'ई' इसी का उदाहरण है। अखंड रूपतत्त्वों को अलग नहीं किया जा सकता। यातायात, स्वराघात आदि अखंड रूपतत्त्वों के उदाहरण हैं।

शब्द-साधना और रूप-साधना—ये दो ही प्रमुख कार्य रूप तत्त्वों को करने होते हैं। इस दृष्टि से रूपतत्त्वों का भेद-प्रभेद इस प्रकार किया जा सकता है:

... ... । ८१-८२ ।

(iii) अन्त में : शिशु + ता — शिशुता।
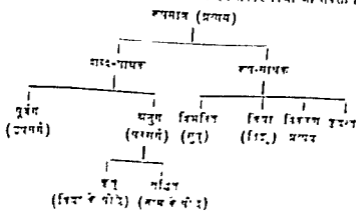
कहीं-कहीं प्रत्यय इस प्रकार लगता है कि प्रकृति (मूल शब्द) का कुछ अंश स्पष्ट विद्यमान व दृष्टिगोचर रहता है। कहीं-कहीं प्रत्यय प्रकृति में इतना परिवर्तन कर डालता है कि प्रकृति का पता तक नहीं चलता। यथा, संस्कृत के 'पच्' से बना 'पपाचीः' तथा 'गम्' से बना 'जग्मतुः' रूप। अंग्रेजी में भी go की भूतकालिक रचना went इसका उदाहरण है।

(६) ध्वनि-गुण अर्थात् स्वराघात व बलाघात भी सम्बन्धतत्त्व के रूप में काम देते हैं। यदि 'मिवरत' शब्द एक सुर में ही बोला जाय तो अर्थ होगा 'मैं मारूँगा' और यदि 'त' को बोलते वक्त उदात्त 'त' कर दिया जाय तो अर्थ होगा 'मैं नहीं मारूँगा'। इसी प्रकार 'पिट्रोक्टोइ' में यदि प्रथम 'ओ' पर स्वराघात होगा तो अर्थ होगा 'पिता के द्वारा मारा गया' और यदि दूसरे 'ओ' पर स्वराघात होगा तो अर्थ होगा 'पिता को मारनेवाला'। अंग्रेजी में 'Conduct' में यदि 'Con' पर बलाघात हुआ तो वह संज्ञा (अर्थ-चरित्र) और यदि अन्तिम 'duct' पर बलाघात हुआ तो वह क्रिया (सचालन करना) बन जाएगा। संस्कृत का वह उदाहरण प्रसिद्ध है जहाँ उदात्त-अनुदात्त की गड़बड़ के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया था, 'इन्द्रशत्रु' कर्मधारय समास करने पर अर्थ होगा 'इन्द्ररूपी शत्रु'। 'इन्द्रशत्रु' बहुव्रीहि समास करने पर 'इन्द्र जिसका शत्रु है' अर्थात् वृत्रासुर अर्थ होगा। स्वर-भेद से वृत्र के स्थान पर इन्द्र की जय हुई।

(७) स्वराघात या बलाघात का अभाव भी सम्बन्धतत्त्व के रूप में काम देता है।

अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पारस्परिक संयोग : वाक्यों में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पारस्परिक संबंध इस प्रकार रहता है : (१) पूर्ण संयोगात्मक, (२) अपूर्ण संयोगात्मक, (३) दोनों स्वतन्त्र, (४) सम्बन्धतत्त्व की अधिकता।

(१) पूर्ण संयोग : वहाँ माना जाता है जहाँ प्रकृति और प्रत्यय दुग्ध-शर्करावत्

सम्बन्ध-तत्त्व की स्थिति व प्रकार

पदरचना की विविध पद्धतियाँ बहुत-कुछ सम्बन्धतत्त्व की स्थिति व रूप पर आधारित हैं। अतः इस बात पर विचार कर लेना अनुचित न होगा कि किन विभिन्न रूपों व स्थितियों में 'सम्बन्धतत्त्व' वाक्य में विद्यमान या अविद्यमान रहता है :

(१) शब्द-स्थान : कभी-कभी शब्दों का ही स्थान सम्बन्धतत्त्व का काम करता है। शब्द-निर्माण व वाक्य-निर्माण दोनों में यह 'स्थान' महत्त्व रखता है। हिन्दी, संस्कृत, और कहीं-कहीं अंग्रेजी में भी समास की प्रवृत्ति में या सामासिक शब्द-विधान में शब्दों के 'स्थान' का महत्त्व स्पष्टतः दृष्टिगत होता है। यथा :

संस्कृत : सदनराज—राजसदन ; मल्लग्राम—ग्राममल्ल।

हिन्दी : राजमहल, डाकघर, मालबाबू आदि।

अंग्रेजी : Light-house, Post-man, Gold-medal आदि।

इसी प्रकार वाक्य-रचना में भी स्थान का महत्त्व है। हिन्दी में क्रिया से पूर्व कर्म व कर्ता का स्थान होता है; यथा, राम (कर्ता) रोटी (कर्म) खाता है (क्रिया)। परन्तु अंग्रेजी में क्रिया बीच में आती है; यथा, He (कर्ता) eats (क्रिया) sweets (कर्म)। संस्कृत में ऐसा कोई बंधन नहीं। चीनी में यह बंधन ऐसा है कि स्थान-परिवर्तन कर देने पर अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। अंग्रेजी तथा हिन्दी में भी ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ वाक्य में शब्द का स्थान बदल जाने से शब्द की स्थिति बदल जाती है, यथा,

(१) चावल जल रहा है। (२) मैं चावल खाता हूँ। (३) श्याम मरता है। (४) राम श्याम मारा। इन वाक्यों में वाक्य एक और दो में 'चावल' शब्द दो विभिन्न स्थितियों में प्रयुक्त है। इसी प्रकार वाक्य तीन और चार में 'श्याम' शब्द दो विभिन्न स्थितियों में प्रयुक्त है। अंग्रेजी में भी Ram beats Shyam और Shyam beats Ram वाक्यों में स्थान-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन हो गया है।

(२) शब्दों को अविकृत छोड़ देना : कभी-कभी शुद्ध शब्द अर्थात् सम्बन्धतत्त्व के किसी प्रकट चिह्न से अप्रयुक्त रूप भी सम्बन्धतत्त्व का काम देने लगता है; यथा—अंग्रेजी में I go, We go आदि। हिन्दी में 'खाना बहुत अच्छा बना है' तथा 'आज आप हमारे साथ खाना'—दोनों वाक्यों में रेखांकित शब्द अविकृत हैं। प्रथम में यह संज्ञा और दूसरे में यह क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में वणिक्, सरित्, भूभृत्, विद्युत्, वारि, दधि, नदी, श्री आदि शब्द अविकृत रहकर भी सम्बन्धतत्त्व का काम दे देते हैं।

सम्बन्धतत्त्व का कार्य : पद-निर्माण व रूप-निर्माण

पद-निर्माण

सम्बधतत्त्व से पद-निर्माण व रूप-निर्माण का कार्य होता है। अतः प्रथम पद-निर्माण पर विचार कर लिया जाय। 'पद' का स्वरूप पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ पुनः उसका स्पष्ट पार्थक्य देख लिया जाय :

शब्द	पद
शब्द वाक्य में अप्रयुक्त सार्थक ध्वनि या ध्वनिसमूह है। शुद्ध रूप में वह सबध-तत्त्व से असपृक्त ही रहता है। वाक्यमें अलग व सबधतत्त्व से वियुक्त ध्वनि-समूह होने पर भी वह अर्थवान् होता है। उसे शुद्ध शब्द, शब्दमात्र, या अर्थमात्र भी कहते हैं, यथा घोडा।	वाक्य में प्रयुक्त शब्द पद है। पद में सबधतत्त्व जुडा रहता है। कभी वह प्रकृति में पूर्ण रूप से मिला हुआ, कभी अलग। कभी थोडा मिला हुआ, कभी थोडा अलग होता है। परन्तु किसी-न-किसी रूप में वह प्रकृति से सलग्न तो रहता ही है। कभी वह प्रकट रूप से जुडा नहीं भी दिखाई देता। इसके योग और प्रयोग के आधार पर ही भाषाओं का आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है, उदा० राम ने।

पद-भेद

यास्क आदि प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने पद के चार भेद—नाम, आख्यात, उपसर्ग, और निपात—किए थे। आधुनिक हिन्दी व्याकरणवेत्ताओं ने अंग्रेजी के अनुकरण पर पद के आठ भेद—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, क्रियाविशेषण, सम्बन्ध-सूचक, समुच्चयबोधक, विस्मयादिबोधक—किए हैं। यद्यपि ये आठ भेद प्राचीन चार भेदों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं परन्तु यह नवीन वर्गीकरण सुविधाजनक अधिक है।

(क) संज्ञा—किसी भाव, पदार्थ आदि का बोध करानेवाले शब्द को संज्ञा कहा जाता है। संज्ञा के पाँच भेद इस प्रकार हैं: जातिवाचक (लड़का); व्यक्तिवाचक (रमेश); भाववाचक (दया); द्रव्यवाचक (सोना चाँदी); समूहवाचक (सभा)।

(ख) सर्वनाम—संज्ञा के स्थानापन्न शब्द सर्वनाम हैं। सर्वनाम के भेद इस प्रकार हैं: (१) पुरुषवाचक [उत्तम पुरुष—मैं (ए०व०), हम (ब०व०), मध्यमपुरुष—तू, तुम (ए०व०), आप (ब०व०), अन्य पुरुष—वह (ए०व०), वे (ब०व०)।] (२) निश्चयवाचक—यह (ए०व०), ये (ब०व०)। (३) अनिश्चयवाचक—कोई, कुछ, (४) प्रश्नवाचक—कौन, क्या (५) सम्बन्धवाचक—जो, सो, (६) निजवाचक—खुद, स्वयं (७) अन्योन्यवाचक—एक दूसरा, आपस में।

(ग) क्रिया—जिस के द्वारा किसी काम का बोध होता है। कर्म के अनुसार क्रिया के भेद इस प्रकार हैं

परस्पर मिल जाते हैं, जिन्हें व्यवहारतः अलग कर पाना कठिन होता है : क्रान्ति, कुनुल, यक्तुलु, मक्तल आदि।

(२) अपूर्ण संयोग : वहाँ माना जाता है जहाँ प्रकृति और प्रत्यय तिलतण्डुलवत् मिले रहते हैं, जिन्हें सिद्धान्ततः व व्यवहारतः अलग कर पाना सरल है; जैसे Thank/ed, Kill/ed, ask/ed आदि अंग्रेजी के भूतकालिक रूप। कन्नड में भी सेवक, सेवक/र, सेवक/रन्नु, सेवक/निद आदि प्रयोग इसके उदाहरण हैं। तुर्की में भी यह स्थिति है : सेव, सेव/इश-मेक, सेव इश/दिर-मेक आदि।

(३) दोनों स्वतन्त्र : जहाँ प्रकृति और प्रत्यय पूर्ण स्वतन्त्र होते हैं। वे पास-पास रहते हैं पर जुड़ते नहीं, उदाहरणार्थ, चीनी का वो ती उलत्सु = मेरा लड़का। वो = मैं, ती = रिक्त शब्द (जो यहाँ सम्बन्धकारक का कार्य कर रहा है) और उलत्सु = लड़का।

(४) सम्बन्धतत्त्व का आधिक्य : उसे कहते हैं जहाँ एक प्रत्यय या विभक्ति-चिह्न से काम न चलने पर दूसरी विभक्ति लगाई जाए। जिस प्रकार पहाड़ी प्रदेश में चढ़ान पर रेलगाड़ी में दो-दो इंजन लगाए जाते हैं, उसी प्रकार स्पष्ट अर्थबोध के लिए अतिरिक्त प्रत्यय, विभक्ति, या तद्बोधक शब्द लगाया जाता है। इसे दोहरी विभक्ति भी कहते हैं। जब 'हम' का प्रयोग एकवचन के अर्थ में (सम्पादक, नेता, कवि, राजा, व बड़े लोगों के द्वारा) होने लगा तो स्पष्ट अर्थ-बोध के लिए 'हमलोग' कह कर उसे बहुवचन बनाया गया। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा :

रिव-बी रैन-ए बो वी = ये सफेद औरतें। इसमें बहुवचनबोधक प्रत्यय 'बी' एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। इंशा अल्लाखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से ऐसे बहुत-से उदाहरण मिल जाएँगे : "तब राजा इन्दर ने अपनियों जातियों जो परियाँ थी उनको बुलाइयाँ थीं", अथवा "सुन्दरियाँ स्त्रियाँ आतियाँ थी।"

बोलचाल में कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति अब भी दृष्टिगोचर होती है; जैसे, गुजरात प्रदेश में चरोतर के मुसलमान स्त्री-पुरुषों की बोलचाल में यह दृष्टिगत होता है : "तुम्हारी भाभियाँ मिलियाँ थी"।

हिन्दी वाक्य-रचना में उपरिनिर्दिष्ट सभी प्रकार के सम्बन्धतत्त्वों के रूप विद्यमान हैं। (अ) ने, को, में आदि रिक्त शब्द हैं जो सम्बन्धतत्त्व का काम देते हैं। (आ) वाक्य में कर्त्ता, कर्म आदि का स्थान निश्चित होता है। (इ) बातचीत में स्वराघात भी अर्थपरिवर्तन करने में समर्थ होता है : 'मैं जाता हूँ' वाक्य में यदि क्रमशः मैं और 'जाता हूँ' पर स्वराघात हो तो अर्थ होगा : (१) मैं ही जाता हूँ दूसरा कोई नहीं, (२) मैं जाता हूँ और कुछ नहीं करता। (ई) बालकों-बालकों आदि में अपूर्ण संयोग है। (उ) 'करता' में 'किया' और 'जाता' में 'गया' में पूर्ण संयोग है। (ऊ) कुरमें से कुरमों, घोड़ा से घोड़ों में स्वर-परिवर्तन से लिंग-परिवर्तन हो जाता है, आदि आदि।

यहाँ, वहाँ); (३) रीतिवाचक (धीरे-धीरे, जल्दी-जल्दी); (४) परिमाणवाचक (इतना, उतना, कम, ज्यादा) (५) प्रश्नवाचक (कितना, कब, कहाँ, कैसे)। प्रयोग के अनुसार क्रियाविशेषण के तीन भेद इस प्रकार हैं : साधारण, संयोजक, और अनुबद्ध। जिस क्रियाविशेषण का वाक्य में स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग होता है उसे साधारण कहते हैं, यथा—वह बहुत हँसता है। जिस क्रियाविशेषण का संबंध दूसरे वाक्य के किसी क्रिया-विशेषण से रहता है, उसे संयोजक कहते हैं, यथा— जब मैं आया तब वह घर में नहीं था। विस्मयादिबोधक को छोड़कर अन्य किसी शब्द के साथ अवधारण के लिए जो क्रियाविशेषण प्रयुक्त होता है उसे अनुबद्ध कहते हैं, यथा—मेरे पास घड़ी तो है। रूप-रचना के विचार से क्रिया विशेषण के तीन भेद इस प्रकार हैं : (१) मूल, (२) यौगिक (३) स्थानीय। जो किसी दूसरे शब्द से नहीं बनाए जाते वे मूल हैं यथा, फिर, अब, दूर, ठीक। यौगिक वे हैं जो दो शब्दों से बनाए जाते हैं, यथा प्रेम-पूर्वक, रातभर, क्रमशः, श्रद्धया। जब कभी संज्ञा, सर्वनाम विशेषण आदि बिना किसी रूपांतर के क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं तब उन्हें स्थानीय क्रिया-विशेषण कहते हैं, जैसे, वे खाक चिट्ठी भेजेंगे। तुम मुझे क्या बुलाओगे। लड़की सुन्दर गाती है।

(च) संबंधसूचक—संज्ञा या सर्वनाम का दूसरे शब्दों से संबंध जोड़ने का कार्य संबंधसूचक करता है। यथा, यह काम भोजन के पहले होना चाहिए। अर्थ के अनुसार यह कई प्रकार का होता है. (१) कालवाचक (पूर्व, बाद में) (२) स्थान-वाचक (ऊपर, नीचे, तले, सामने) (३) दिशावाचक (ओर, प्रति तरफ) (४) साधनवाचक (द्वारा, जरिए, मारफत) (५) कार्य-कारणवाचक (वास्ते, निमित्त) (६) विषयवाचक (बाबत, लेखे, निस्बत) (७) भिन्नतावाचक (सिवा, अलावा अतिरिक्त) (८) विनिमयवाचक (बदले, के स्थान पर), (९) सादृश्यवाचक (समान, तरह, भांति), (१०) विरोधवाचक (विरुद्ध, खिलाफ), (११) सहचारवाचक (साथ, संग, सहित), (१२) संग्रहवाचक (भर, तक, पर्यन्त), (१३) तुलनावाचक (की अपेक्षा, बनिस्बत, आगे)। रूप-रचना के विचार से संबंधसूचक के केवल दो भेद हैं : मूल और यौगिक। मूल वे हैं जो किन्हीं शब्दों से बने नहीं होते यथा बिना, साथ, पीछे। यौगिक वे है जो दो या अधिक शब्दों से बने होते हैं यथा रात भर, किनारे तक, लड़के समेत।

(छ) समुच्चयबोधक दो वाक्यों या उपवाक्यों को जोड़ने का कार्य करता है जैसे, मोहन आया और रमेश गया। समुच्चयबोधक के प्रमुख दो भेद हैं समानाधिकरण और व्यधिकरण। समानाधिकरण के चार भेद इस प्रकार हैं संयोजक विभाजक, विरोध-दर्शक, परिणाम-दर्शक। व्यधिकरण के चार भेद इस प्रकार हैं कारणवाचक, उद्देश्यवाचक, संकेतवाचक। दो स्वतंत्र निरपेक्ष वाक्यों को जोड़ने वाले समुच्चयबोधक को समानाधिकरण और दो परस्पर सापेक्ष वाक्यों को जोड़ने वाले समुच्चयबोधक को व्यधिकरण कहते हैं। व्यधिकरण में एक वाक्य दूसरे वाक्य पर आश्रित होता है। समानाधिकरण के चार भेद : (१) संयोजक [illegible] और

(१) निश्चयार्थक : यह जाता है। (२) संभावनार्थक : वह जाता हो। (३) आज्ञार्थक : तुम जाओ। (४) संदेहार्थक : यह जाता होगा (५) संकेतार्थक : यदि वह जाता तो काम हो जाता।

कर्म की प्रधानता या गौणता के आधार पर क्रिया के भेद इस प्रकार हैं :

(१) सकर्मक : जहाँ क्रिया के साथ कर्म लगा रहता है—'राम रोटी खाता है।' (२) द्विकर्मक जहाँ दो कर्म होते हैं, एक प्रधान और एक गौण। गौण कर्म के साथ सदैव 'को' चिह्न लगा रहता है। उदाहरणार्थ :

गुरुजी	छात्रों को	व्याकरण	पढ़ाते हैं।
कर्ता	गौण कर्म	प्र० कर्म	क्रिया

(३) अकर्मक : जहाँ क्रिया किसी कर्म से सम्बद्ध न हो, अर्थात् जहाँ कर्म का अभाव हो; जैसे वह जाता है।

वाच्य के अनुसार क्रिया के तीन भेद इस प्रकार हैं—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, और भाववाच्य। कर्तृवाच्य सकर्मक व अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं में होता है, यथा लड़की पुस्तक पढ़ती है, नौकर स्टेशन जाता है। कर्मवाच्य केवल सकर्मक क्रियाओं में ही होता है, यथा : पुस्तक पढ़ी जाती है, और भाववाच्य केवल अकर्मक क्रियाओं में ही होता है, यथा : नौकर से चला जाता है।

(घ) विशेषण—संज्ञा या सर्वनाम की विशेषता बताने का कार्य विशेषण करता है। विशेषण के प्रकार हैं (१) गुणवाचक, (२) संख्यावाचक [निश्चित संख्यावाचक (पूर्णांक, अपूर्णांक, क्रम, आवृत्ति, समूह और प्रत्येक बोधक) और अनिश्चित संख्यावाचक], (३) परिमाण बोधक, (४) निश्चयबोधक, (५) अनिश्चयबोधक, (६) प्रश्नबोधक, (७) सम्बबोधक।

गुणवाचक विशेषण रंग-रूप, आकार-प्रकार तथा गुण बताता है : अच्छा, बड़ा, छोटा, भला आदि।

संख्यावाचक विशेषण संख्या बताता है। जहाँ संख्या अनिश्चित है वहाँ अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण होगा, निश्चित संख्या होने पर निश्चित संख्यावाचक विशेषण : पाँच रुपए। पूर्णांकबोधक—तीन, चार, अपूर्णांकबोधक—आधा, पौन, पाव; क्रमबोधक—पहला, दूसरा, तीसरा; आवृत्तिबोधक—दुगुना, तिगुना, चौगुना; समूहबोधक—दोनों, तीनों, चारों, प्रत्येकबोधक—हर एक, प्रत्येक। अनिश्चित संख्यावाचक—कुछ।

विशेष्य के लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तन पानेवाला विशेषण विकारी और न विकृत होनेवाला विशेषण अविकारी कहलाता है, यथा काला घोड़ा—काली गाय (विकारी); सफेद बकरी—सफेद बकरा (अविकारी)।

(ङ) क्रिया-विशेषण—क्रिया की विशेषता बताने वालाशब्द क्रिया विशेषण कहलाता है, यथा—गाड़ी धीरे-धीरे चलती है। क्रियाविशेषण के प्रमुख भेद इस प्रकार हैं : (१) कालवाचक (आज, कल, परसों, अभी), (२) स्थानवाचक (इधर, उधर,

[illegible]

वचन—[illegible] है।
[illegible] भी है।
[illegible] है।
[illegible] हिंदी में एकवचन और बहुवचन की ही व्यवस्था
है। वचन-परिवर्तन के [illegible] की व्यवस्था प्रत्येक भाषा में होती है।
हिंदी में ए (लड़का लड़के) [illegible] एँ (रात-रातें), यों (चिड़िया-चिड़ियों) आदि प्रत्ययों द्वारा बहुवचन बनाया जाता है। इसमें अविभक्तिक व विभक्तिक रूपों में अन्तर भी होता है।

कारक—लिंग और वचन की भाँति ही कारक भी एक व्याकरणिक कोटि है और भाषा में वाक्य-निर्माण के कार्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। क्रिया के निष्पादक कारक कहलाते हैं। इनके बोधक चिह्न विभक्तियाँ कहलाती हैं। षष्ठी को कारक माना नहीं जाता क्योंकि उसका क्रिया से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। किसी-किसी भाषा में ३० कारकों की व्यवस्था भी देखी गई है जो कारक-व्यवस्था की असाधारण प्रखरता वैविध्य की परिचायक है। हिंदी में ने (प्रथमा), को (द्वितीया), से (तृतीया), के लिए, के लिये (चतुर्थी), से (पंचमी), का के की, रा रे री (षष्ठी); में, पर (सप्तमी), हे, अरे, अजी (सम्बोधन) विभक्ति-प्रत्यय हैं। सर्वनामों में लगने पर ये प्रकृति (मूलरूप) में विशेष परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं।

क्रिया—काल, वाच्य, पद, सकर्मकता आदि क्रिया से सम्बद्ध व्याकरणिक कोटियाँ हैं।

वाच्य—इसका सम्बन्ध क्रिया से है। कर्ता, कर्म, और भाव की प्रधानता से क्रमशः क्रिया के तीन वाच्य कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, व भाववाच्य निर्मित होते हैं। 'राम रोटी खाता है' कर्तृवाच्य है। 'रोटी खाई जाती है' कर्मवाच्य है, और 'लड़की से चला नहीं जाता' में भाववाच्य है। कर्म की प्रधानता (स्थिति) व अभाव के विचार से क्रिया के दो रूप सकर्मक और अकर्मक होते हैं तथा फल के भोक्ता के आधार पर क्रिया के दो प्रयोग आत्मनेपद और परस्मैपद स्वीकृत थे। फल का भोक्ता स्वयं हो तो आत्मनेपद और दूसरा हो तो परस्मैपद का प्रयोग होता था। संस्कृत में यह व्यवस्था थी जो अब संस्कृत में भी बंद हो गई है। काल क्रिया की महत्त्वपूर्ण व्याकरणिक कोटि है। काल की अवधारणा अधिक ठोस प्रतीत होती है। विभिन्न भाषाओं में विभिन्न कालव्यवस्था होती है। मुख्यतः क्रिया की पूर्णता और अपूर्णता के आधार पर इनका कोटि-निर्धारण होता है। संस्कृत में क्रिया के दस लकार कालदर्शक हैं। थोड़ी-बहुत भिन्नता होते हुये भी कालव्यवस्था में उतनी असमानता नहीं जितनी लिंग-वचन आदि में। हिंदी में भूतकाल के आठ भेद हैं परन्तु अंग्रेजी

कृष्ण आया, (२) विभाजक : राम आवे या कृष्ण आवे, (३) विरोध-दर्शक : लड़का चतुर है मगर आलसी है, (४) परिणाम-दर्शक : वह बीमार है इसलिए पाठशाला नहीं गया। व्यधिकरण के चार भेद (१) स्वरूपवाचक : राजा ने कहा कि मैं चोर को दण्ड दूँगा, (२) कारणवाचक : लड़की आज काम पर नहीं आई क्योंकि उसकी माँ बीमार है, (३) उद्देश्यवाचक : चिट्ठियाँ रजिस्ट्री से भेजी जाती हैं ताकि खो न जाएँ। (४) संकेतवाचक : जो तू मेरी बात मानेगा तो तेरा भला होगा।

(ज) विस्मयादिबोधक तीव्र भाव या मनोविकार को प्रकट करने वाले होते हैं। इनके कोई भेद नहीं है परन्तु ये विस्मय (वाह!), हर्ष (अहा!); शोक (हाय); तिरस्कार (छि!), क्रोध (चुप!), स्वीकार (ठीक!); संबोधन (अजी!) का भाव प्रकट करते हैं। कभी कभी संज्ञा (राम-राम!), विशेषण (भला!); क्रिया (हट!); क्रियाविशेषण (क्यों!) भी विस्मयादिबोधक के रूप में काम देते हैं।

शब्दनिर्माण का एक रूप वहाँ दिखाई देता है जहाँ एक प्रकार के शब्दों को प्रत्ययों की सहायता से दूसरे प्रकार के शब्दों में बदला जाता है, जैसे संज्ञा से क्रिया : बात से बतियाना, लात से लतियाना, भूठ से भुठलाना आदि। क्रिया से संज्ञा : चिल्लाना से चिल्लाहट, पुकारना से पुकार आदि, एक प्रकार की संज्ञा से दूसरे प्रकार की संज्ञा का निर्माण लड़का (जातिवाचक संज्ञा) से लड़कपन (भाववाचक संज्ञा); विशेषण से संज्ञा मृदु से मृदुता आदि।

रूपनिर्माण : (अर्थात् व्याकरणिक कोटियाँ).

शब्दनिर्माण पर विचार कर चुकने पर अब रूपनिर्माण का विचार करना इष्ट है। प्रत्ययों की सहायता से रूपनिर्माण का कार्य होता है। क्रिया के काल, संज्ञा के लिंग, वचन, विभक्तियाँ आदि का बोध व निर्माण प्रत्ययों से ही हो पाता है। इन्हें व्याकरणिक कोटियाँ भी कहते हैं।

लिंग—लिंग दो प्रकार के होते हैं, व्याकरणिक और प्राकृतिक (बायोलॉजिकल)। बहुधा व्याकरणिक लिंग-व्यवस्था जैविक लिंग-व्यवस्था का पूर्णतः अनुशासन नहीं स्वीकार करती—संस्कृत में 'स्त्री' के पर्यायवाची 'दारा' 'स्त्री' 'कलत्रम्' क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, और नपुंसकलिंग हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं। विभिन्न भाषाओं में लिंग-व्यवस्था विभिन्न होती है, यथा हिंदी में पुंल्लिग और स्त्रीलिंग ही है। गुजराती में तीन लिंग हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग, व नपुंसकलिंग। कहीं-कहीं ६ लिंग भी हैं। अप्राणीवाचक शब्दों का लिंग-निर्णय प्रत्येक भाषा की विकट समस्या है। 'दही' बनारस में 'राट्टी', दिल्ली में 'पट्टा', और गुजरात में 'खाटु' (न० पुं०) हो जाता है। निष्कर्ष यह कि लिंग-व्यवस्था यादृच्छिक है और उसका कोई तर्क-संगत आधार नहीं है। लिंगबोध जहाँ स्पष्ट नहीं है वहाँ शब्द के आगे 'नर' या 'मादा' लगाकर स्पष्ट किया जाता है; नर भेड़िया, मादा भेड़िया, मुण्डा भाषा में भी बाघ को 'सोडिया कूल' और बाघिन को 'एगा कूल' कहते हैं। लिंग-परिवर्तन के लिए प्रत्येक भाषा में कतिपय प्रत्ययों की व्यवस्था होती है। हिंदी में ई (लड़का-लड़की); इया (चूहा-चुहिया); इन (सुनार-सुनारिन, बाघ-बाघिन); नी (ऊँट-ऊँटनी);

(३) अज्ञान—रूप-परिवर्तन का एक प्रमुख कारण अज्ञान है। यह ठीक है कि पतंजलि ने कहा है कि शुद्ध शब्दों की तुलना में अशुद्ध शब्दों की संख्या अनेक गुना अधिक है, अतः शुद्ध शब्द को जान लिया जाय और अशुद्ध शब्दों को छोड़ दिया जाय। किन्तु समस्या यह है कि जिन्हें 'अशुद्ध' में 'शुद्ध' की भ्रांति बनी है उन्हें भ्रम-निरसित कैसे किया जाय? मेरे एक मित्र अपने नवीन भवन की गृह-प्रवेश-विधि कर चुकने के उपरान्त अपने भवन में प्राप्त सुविधाओं का परिचय देते हुए बोले कि इस भवन में हर तरह की 'प्रतिकूलता' है, किसी तरह की 'अनुकूलता' नहीं। उपस्थित समुदाय अपनी हँसी रोक नहीं पाया। बाद में मैंने उन्हें बतलाया कि अनुकूलता का अर्थ सुविधाएँ और प्रतिकूलता का अर्थ असुविधाएँ है। इसी प्रकार 'दर असल' को 'दर असल में'; दौरान को 'दौरान में'; फिजूल को 'बेफिजूल' लिखने-बोलने तथा शुद्ध रूपों को अशुद्ध माननेवालों की कमी नहीं है। अभिज्ञ को भिज्ञ, स्रष्टा को सृष्टा; सापेक्ष को सापेक्ष्य कहनेवाले भी बहुत मिल जायेंगे। एक सज्जन बड़े भाषणखोर थे। चमत्कार लाने के विचार से वे कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करते जो उन्हें बोलने में अच्छे प्रतीत होते किन्तु जिनका अर्थ वे शायद ही जानते थे। एक बार उन्होंने वक्तव्य दिया कि "स्वर्गीय महाराजा साहब ने हमारे देश की खूब सेवा की है। स्वर्गीय महाराजा साहब बड़े उदार, विवेकी व्यक्ति हैं" और महाराजा साहब को जीवित अवस्था में ही स्वर्गलाभ हो गया।

(४) बल—रूप-परिवर्तन में 'बल' का उतना ही महत्त्व है जितना पूर्ववर्ती कारणों का। 'स्वागतम्' निर्बल मालूम पड़ा होगा तभी तो 'सुस्वागतम' का जन्म हुआ होगा। 'स्वादु' से तृप्ति नहीं हुई होगी तभी तो 'सुस्वादु' बना होगा। 'छाती ठोक कर' कहने पर भी प्रभाव न पड़ने की आशंका रही होगी तभी लोग "मैं दावे के साथ, छाती ठोक कर कहता हूँ" कहने लगे होंगे। श्रेष्ठ को श्रेष्ठतम; खालिस को 'निखालिस'; 'ब्यूटीफुल' को 'मोस्ट ब्यूटिफुल' कहने की प्रवृत्ति के पीछे बल ही काम कर रहा है न।

(५) सादृश्य—इसे उपमान भी कहते हैं। दूसरी भाषाओं के प्रभाव में आकर हम अपनी भाषा के शब्दों का रूप-परिवर्तन कर लेते हैं। विशेषकर उनके लिंग, वचन आदि में प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। कभी कभी सादृश्य के कारण हम रूप-से रूप बना लेते हैं, जैसे 'मनसा वाचा कर्मणा'। अरबी फारसी के संपर्क से हिन्दी के कई शब्द स्त्रीलिंग हो गए हैं। इनके मूल संस्कृत रूप पुंलिंग हैं पर हिन्दी में स्त्रीलिंग हैं, यथा—आत्मा, आय, आयु, ... जय, सामर्थ्य ... आदि। इनमें अरबी-फारसी पर्याय शब्द ... विजय, कलम, ... सभी स्त्रीलिंग हैं।

रूप-परिवर्तन की दिशाएँ

शब्द का आगम, शब्द का लोप, और शब्द का विपर्यय—ये तीन रूप-परिवर्तन की दिशाएँ हैं :

व्याकरण के प्रभाव से हमने वर्तमान, भूत, व भविष्य तीनों कालों के तीन-तीन (सामान्य, अपूर्ण, और पूर्ण) भेद स्वीकार कर नौ भेद माने हैं। ता, ते, ती वर्तमान के बोधक; था, थे, थी भूत के बोधक; ऊँगा, एँगे, ऊँगी भविष्यत् के बोधक प्रत्यय हैं। क्रिया की अपूर्णता का बोध कराने के लिए रहा, रहे, रही को जोड दिया जाता है, यथा : मैं जा रहा था, मैं जा रहा हूँगा (होऊँगा), मैं जा रहा हूँ आदि।

ये सारी व्याकरणिक कोटियाँ प्रत्ययों का ही लीलाविस्तार हैं। सम्बन्धतत्त्व भाषा में क्या कार्य करता है इसका पता इन्हीं से चलता है। इनके अभाव में शब्द व क्रियाओं के रूपनिर्माण का कार्य असम्भव हो रहता है और अभिव्यक्ति में स्पष्टता प्राप्त नहीं हो पाती।

रूप-परिवर्तन के कारण

ध्वनि और अर्थ की भांति 'रूप' में भी परिवर्तन होता है किन्तु उसके कारण उतने विस्तृत व जटिल नहीं हैं। रूप-परिवर्तन के कारण हैं : (१) सरलता का आग्रह, (२) नवीनता का आग्रह, (३) अज्ञान, (४) बल, और (५) सादृश्य।

(१) सरलता का आग्रह—मनुष्य सरलता का आग्रही है। उच्चारण में प्रयत्न लाघव द्वारा उसने ध्वनि-रूपों को सरल कर लिया और उसी का सहज परिणाम हुआ 'रूप-परिवर्तन'। जहाँ कहीं भाषा में दो या अधिक रूपों का विकल्प प्रवर्तमान रहा, उसने उनमें से सरल रूप का व्यवहार अधिक किया और फलतः शेष विकल्प व्यवहार से छूट गए। प्रारंभ में देवेभि और देवैं दोनों रूप चले और बाद में देवैः रह गया। एकरूपता लाने के प्रयत्न में भी उसने रूपों को सरलीकृत कर लिया है। प्रारंभ में हस्तिन्, मुनि, करिन्, हरि, साधु आदि के तृतीया एकवचन के रूप भिन्न-भिन्न रहे होंगे। सरलता के आग्रही मनुष्य ने हस्तिन् से हस्तिना और मुनि से मुनिना कर दिया, करिन् से करिणा और हरि से हरिणा कर दिया, इतना ही नहीं उकारान्त साधु से भी साधुना रूप कर लिया। मह्य—मे, मम—मे, युवाम्—वां, युष्मान्—व; आवाम् —नौ, अस्मान्—न आदि दो-दो रूपों में से सरल रूपों का स्वतः ग्रहण कर शेष को उसने छोड दिया।

वाक्यविज्ञान

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

वाक्यविज्ञान — भाषाविज्ञान की वह शाखा जिसमें वाक्य का [illegible] किया जाता है, वाक्यविज्ञान कहलाती है।

विचार और वाक्य — [illegible]

आगम—बोलते समय किसी शब्द के साथ आगे या पीछे सार्थक या निरर्थक शब्दों का आ जाना व धीरे धीरे उनका शिष्ट-व्यवहार में भी रूढ़ हो जाना आगम है।

(१) कभी-कभी बोलते समय शब्द के पीछे निरर्थक ध्वनियाँ आने लग जाती हैं, यथा पकड़-धकड़, पानी-वानी, जन-वन; लड़का-वड़का; रोटी-वोटी, आदि। इनमें पकड़, पानी, जन, लड़का, रोटी तो सार्थक शब्द हैं किन्तु धकड़, वानी, वन, वड़का, वोटी निरर्थक ध्वनियाँ हैं। इन्हें भाषाविज्ञान में 'अनुकरण शब्द' कहते हैं।

(२) कभी-कभी समानार्थी शब्द साथ या पीछे आते हैं, जैसे रस्मो-रिवाज; खान-पान, वेश-भूषा, नौकर-चाकर, कागज-पत्र आदि।

(३) कभी राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रभाव के कारण शासक की भाषा के शब्द शासित की भाषा में आ जाते हैं, कलम, दवात, स्याही, मर्जी, सिफारिश आदि मुसलमानों के प्रभाव से आए शब्द हैं।

लोप—उच्चारण और कथन शैली से कतिपय शब्दों का व्यवहार बंद हो जाना लोप है, जैसे 'बिहारी सतसई' के स्थान पर 'सतसई'; 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के स्थान पर 'शाकुन्तलम्', 'पृथ्वीराज रासो' के स्थान पर 'रासो' आदि का व्यवहार।

विपर्यय—एक भाषा का शब्द उसी रूप में किन्तु दूसरे ही अर्थ में दूसरी भाषा में जब प्रयुक्त होने लगता है तब हम उसे विपर्यय कहते हैं। अंग्रेजी में 'ग्लास' काँच को कहते हैं परन्तु हिन्दी में गिलास या ग्लास काँच के बने पात्र को कहते हैं। पत्र का ही एक पर्याय कागज है किन्तु कागज के स्थान पर दुकानदार से पत्र माँगने पर दुकानदार शायद असमंजस में पड़ जाएगा। संस्कृत का 'साधुवाद' Thanks के अर्थ में प्रयुक्त होता था और 'धन्यवाद' Congratulations के अर्थ में। आज 'धन्यवाद' Thanks के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

वाक्यविज्ञान

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

वाक्यविज्ञान : भाषाविज्ञान की वह शाखा जिसमें वाक्य का भाषिक अध्ययन किया जाता है, वाक्यविज्ञान कहलाती है।

विचार और वाक्य भाषा का मुख्य कार्य विचार की अभिव्यक्ति है। विचार की अभिव्यक्ति वाक्य के माध्यम से ही होती है। विचार और वाक्य में एक प्रकार से तादात्म्य सम्बन्ध है। बिना वाक्य के विचार की स्थिति असम्भव है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि वाक्य की अव्यक्त अवस्था का नाम विचार है या विचार की व्यक्त अवस्था का नाम वाक्य है। मनुष्य जो कुछ सोचता है, समझता है, और बोलता है, वह सब वाक्यों में ही हुआ करता है। मनुष्य के विचार की अभिव्यक्ति एक शब्द में भी हो सकती है और एक से अधिक शब्दों में भी। अतः वाक्य एक शब्द का भी हो सकता है और अनेक शब्दों का भी।

भाषा की इकाइयों में वाक्य प्रथम इकाई है। इसके बाद रूप, शब्द, और ध्वनि का नम्बर आता है। अतः भाषाविज्ञान के अंगों में वाक्यविज्ञान (वाक्य-विचार) सर्वप्रथम विश्लेषणीय अंग है। पृथ्वी पर जन्म लेने के उपरान्त बच्चा भी बोलते-चलते अपने विचार वाक्य में ही प्रकट करता है। भले ही उसका वह वाक्य एक शब्द का हो। छोटा बालक जब 'हप्पा' या 'पप्पा' कहता है, तब उसके 'हप्पा' और 'पप्पा' वास्तव में वाक्य ही हैं, शब्द नहीं। वयस्क व्यक्ति की भाषा में बालक के वाक्य इस प्रकार लिखे जा सकते हैं

बालक के वाक्य	वयस्क व्यक्ति के वाक्य
(१) हप्पा	(१) मैं रोटी खाऊँगा।
(२) पप्पा	(२) मैं पानी पिऊँगा।

उपर्युक्त उदाहरणों और विवेचन से सिद्ध होता है कि वाक्य एक शब्द का भी हो सकता है।

छोटे बच्चे की भाषा में ही नहीं, बड़े-बड़े वयस्क व्यक्तियों की भाषा में भी वाक्य एक शब्द का हो सकता है।

आगम—बोलते समय किसी शब्द के साथ आगे या पीछे सार्थक या निरर्थक शब्दों का आ जाना व धीरे धीरे उनका लेखन-व्यवहार में भी रूढ़ हो जाना आगम है।

(१) कभी-कभी बोलते समय शब्द के पीछे निरर्थक ध्वनियाँ अपने आप आ जाती हैं, यथा : पकड़-धकड़, पानी-वानी; जल वल; लड़का-वड़का; रोटी-ओटी; आदि। इनमें पकड़, पानी, जल, लड़का, रोटी तो सार्थक शब्द हैं किन्तु धकड़, वानी, वल, वड़का, ओटी निरर्थक ध्वनियाँ हैं। इन्हें भाषाविज्ञान में 'यदृच्छा शब्द' कहते हैं।

(२) कभी-कभी समानार्थी शब्द आगे या पीछे आते हैं, जैसे रस्मो-रिवाज; खान-पान, वेश-भूषा, नौकर-चाकर; कागज-पत्र आदि।

(३) कभी राजनीतिक या सांस्कृतिक प्रभाव के कारण शासक की भाषा के शब्द शासित की भाषा में आ जाते हैं : कलम, दवात, स्याही, अर्जी, लिफाफा आदि मुसलमानों के प्रभाव से आए शब्द हैं।

लोप—उच्चारण और फलतः लेखन से कतिपय शब्दों का व्यवहार बंद हो जाना लोप है, जैसे 'बिहारी सतसई' के स्थान पर 'सतसई'; 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के स्थान पर 'शाकुन्तलम्', 'पृथ्वीराज रासो' के स्थान पर 'रासो' आदि का व्यवहार।

विपर्यय—एक भाषा का शब्द उसी रूप में किन्तु दूसरे ही अर्थ में दूसरी भाषा में जब प्रयुक्त होने लगता है तब हम उसे विपर्यय कहते हैं। अंग्रेजी में 'ग्लास' कांच को कहते हैं परन्तु हिन्दी में गिलास या ग्लास कांच के बने पात्र को कहते हैं। पत्र का ही एक पर्याय कागज है किन्तु कागज के स्थान पर दूकानदार से पत्र मांगने पर दुकानदार शायद असमंजस में पड़ जाएगा। संस्कृत का 'साधुवाद' Thanks के अर्थ में प्रयुक्त होता था और 'धन्यवाद' Congratulations के अर्थ में। आज 'धन्यवाद' Thanks के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

मान लीजिए कि दो व्यक्ति आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। उनमें से एक का नाम 'हरी' और दूसरे का नाम 'गोपाल' है।

हरी—गोपाल! तुम्हारे पिताजी कहाँ गये हैं?

गोपाल—दिल्ली।

हरी—दिल्ली से किस दिन लौटेंगे?

गोपाल—सोमवार को।

हरी—सोमवार को घर पर मिल सकते हैं या नहीं?

गोपाल—नहीं।[1]

हरी—तो।

गोपाल—मंगलवार ठीक रहेगा।

हरी—अच्छा।

गोपाल—अब मैं ठहरूँ या जाऊँ?

हरी—ठहरिए।

उपर्युक्त वार्तालाप में 'दिल्ली', 'नहीं', 'तो', 'अच्छा', और 'ठहरिए' वास्तव में वाक्य ही हैं। यदि कोई इन्हें एक पद या एक शब्द कहता है तो भाषाविज्ञान की दृष्टि से अयुक्त है। उपर्युक्त एकपदीय वाक्य को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है.

वाक्य	व्याख्यात्मक वाक्य
(१) दिल्ली	(१) पिता जी दिल्ली गये हैं।
(२) नहीं	(२) पिता जी सोमवार को नहीं मिल सकते।
(३) तो	(३) तो किस दिन मिल सकते हैं?
(४) अच्छा	(४) अच्छा, मैं ठीक समझता हूँ।
(५) ठहरिए	(५) आप ठहरिए।

संस्कृत में भी 'गच्छ' एक पद है, किन्तु यह अपने में एक वाक्य है, जिसका अर्थ है—'त्वं गच्छ'।

इसीलिए जिन लोगों ने वाक्य की परिभाषा लिखते हुए उसे 'सार्थक शब्दों का समूह' माना है, उनका कथन वैज्ञानिक नहीं है। वाक्य तो एक पद या शब्द का भी हो सकता है।

विश्व में ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें एक ही शब्द के वाक्य होते हैं। ऊपर संस्कृत का 'गच्छ' इसका उदाहरण है। वार्तालाप में संस्कृत का 'आम्' अव्यय भी एक वाक्य माना जा सकता है।

मोहनः—शोभन! भोजनं करिष्यसि?

शोभनः—आम्।

---

१. व्याकरण की दृष्टि से यह लुप्तपद वाक्य है। पूर्ण वाक्य, "... नहीं मिल सकते।"

वाक्य के आवश्यक तत्त्व . संस्कृत-व्याकरणशास्त्र के आचार्यों ने वाक्य के आवश्यक तत्त्वों पर विचार किया है। उनके तत्त्वों पर विचार करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि वाक्य के लिए छह तत्त्वों का होना आवश्यक है। इनके बिना वाक्य वास्तव में 'वाक्य' कहलाने का अधिकारी नहीं है

(१) सार्थकता (२) योग्यता (३) आकांक्षा-पूर्ति (४) सन्निधि या आसत्ति (५) अन्विति (६) क्रम (पदक्रम या शब्दक्रम)।

(१) **सार्थकता** इस तत्त्व का तात्पर्य है कि वाक्य में सार्थक शब्दों का होना आवश्यक है। निरर्थक शब्दों की स्थिति में वाक्य 'वाक्य' संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। 'लौकचा बिडल्लू में घुसा' वाक्य नहीं, क्योंकि इसमें लौकचा और बिडल्लू निरर्थक शब्द हैं।

(२) **योग्यता** . इसका अर्थ यह है कि शब्दों में अपने भाव या विचार को प्रकट करनेवाली योग्यता होनी चाहिए। योग्यता के बिना वाक्य की स्थिति असम्भव है। *'वह खेत को आग से सींच रहा है'*—यह वाक्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि *'आग'* में सींचने की योग्यता (क्षमता) नहीं है, जलाने की क्षमता तो है। इसीलिए—"वह खेत को कुएँ के पानी से सींच रहा है" को वाक्य कह सकते हैं। "मछलियाँ पेड़ पर चढ़ गयीं" वाक्य नहीं है, क्योंकि कर्त्ता में वैसी क्रिया करने की योग्यता नहीं है। सामान्य दृष्टि से हम इसे वाक्य नहीं कह सकते। हाँ, विशिष्ट दृष्टिकोण से अर्थात्

१ इसमें दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनापरक वाक्य-अध्ययन किया जाता है।

२. इसमें दो या दो से अधिक भाषाओं के वाक्यों का पूर्णविकास-सहित तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है।

हठयोगपरक उलटवाँसी के कलेवर में जब कबीर कहते हैं कि "देख कबीरा जाग, मछली रूखाँ चढ़ि गई" तब हम इसे वाक्य मान भी लेते हैं। यह विशिष्ट स्थिति का कथन है जो एक प्रमुख एवं विशेष संदर्भ एवं प्रसंग में कहा गया है।

(३) आकांक्षा-पूर्ति : वाक्य में आकांक्षा (श्रोता या वक्ता की इच्छा) की पूर्ति होनी चाहिए। इच्छा शेष रहने पर वाक्य सार्थक नहीं माना जाता। 'लड़का घर की ओर...' में इच्छा शेष है। अत यह वाक्य नहीं। जब तक हम 'जाता है' या 'दौड़ता है' जैसा पद नहीं जोड़ते तब तक इच्छापूर्ति नहीं होती। 'है' या 'था' क्रिया के बिना भी वाक्य मान लिया जाता है, क्योंकि उसमें स्वत आकांक्षापूर्ति हो जाती है।[1] जैसे, "गिरा अनयन नयन बिनु बानी"। (रामच० बाल० २२९/२)।

(४) सन्निधि—इसका अर्थ है कि वाक्य के शब्द देशकाल के अनुसार निकट (समीप) होने चाहिए। यदि कोई व्यक्ति आज प्रात आठ बजे कहता है "मोहन घर" और फिर दूसरे दिन प्रात नौ बजे कहता है "मैं पढ़ रहा है" तो यह वाक्य नहीं माना जाएगा।

(५) अन्विति—इसका तात्पर्य है वाक्य के पदों में लिंग, वचन, पुरुष, कारक आदि की दृष्टि से सामंजस्य की स्थापना। इसे अंग्रेजी में Concordance कहते हैं। हिन्दी में 'लड़का गयी' और अंग्रेजी में 'The boy go' वाक्य नहीं है, क्योंकि इनके पदों में अन्विति (Concordance) नहीं है।

"अच्छा लड़की पढ़ता है", "लड़की ने रोटी खाया", "मुझ से नहीं चली जाता" आदि हिन्दी में वाक्य नहीं है, क्योंकि इनमें अन्विति नहीं पायी जाती।

हिन्दी भाषा में जो कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, और भाववाच्य की क्रियाओं का विधान है, वह सब अन्विति के आधार पर है। जब वाक्य में क्रिया लिंग-वचन में कर्ता के अनुसार होती है तब कर्तृवाच्य और जब कर्म के लिंग-वचन के अनुसार होती है तब कर्मवाच्य कहाती है। जब क्रिया न कर्ता के अनुसार और न कर्म के अनुसार आती है, अपितु सदा भावानुगामिनी अर्थात् एक रूपवाली रहती है, तब भाववाच्य की कहाती है। जैसे :

(१) कर्तृवाच्य की क्रिया और वाक्य
लड़का गया। लड़के गये। लड़की गयी। लड़कियाँ गयीं।

(२) कर्मवाच्य की क्रिया और वाक्य -
लड़के ने अमरूद खाया। लड़के ने रोटी खायी। लड़की ने अमरूद खाया। लड़कियों ने रोटी खायी।

(३) भाववाच्य की क्रिया और वाक्य .
लड़के से नहीं चला जाता। लड़की से नहीं चला जाता।

---

१. "मैंने उसके घर के सब आदमियों को देखा है। लड़के सुन्दर और लड़कियाँ सुन्दर।" इस द्वितीय वाक्य में क्रिया के बिना भी अर्थ पूरा हो जाता है

(६) पदक्रम—इसका सम्बन्ध वाक्य में पदों के क्रम-निर्धारण से है। भाषाओं में अपनी प्रकृति के अनुसार साधारणतया एक निश्चित क्रम होता है। यदि उसमें परिवर्तन हो गया तो वाक्य की सार्थकता समाप्त हो जाती है।

हिन्दी में 'लड़का किताब पढ़ता है' एक वाक्य है, क्योंकि इसमें कर्ता, कर्म और क्रिया क्रम से मौजूद हैं। अँगरेजी में 'The boy reads a book' वाक्य है क्योंकि इसमें कर्ता, क्रिया, और कर्म क्रम से मौजूद हैं। यदि इसे उलटकर यों कर दिया जाय 'The boy a book reads' या 'A book reads the boy" तो अँगरेजी में ये वाक्य नहीं माने जाएँगे, क्योंकि क्रम-हीन हैं। हिन्दी में 'राम किताब ने पढ़ी' वाक्य नहीं, क्योंकि पद-क्रम ठीक नहीं।

क्रमवाला तत्त्व सामान्य भाषा-स्थिति में ठीक बैठता है। वैसे कभी-कभी किसी वाक्य में विशेष बात या कथन पर बल देने के लिए हिन्दी में 'लड़का पढ़ता है किताब' भी वार्तालाप में प्रयुक्त होता है। सामान्य रूप में 'लड़का किताब पढ़ता है' ही बोला जाता है।

वाक्य-भेद के आधार—(१) रचना, (२) आकृति, (३) भाव या अर्थ।

---

१ संस्कृत, अरबी, और फारसी में ऐसे वाक्य पाये जाते हैं जिनमें पद-स्थान-परिवर्तन से भी वैसा ही सार्थक वाक्य बना रहता है। जैसे:

सं० रामः गोपालं अहनत्। गोपालं अहनत् रामः।
अ० ज़रबअ़ रामुन् गोपालन्। ज़रबअ़ गोपालन् रामुन्।
फा० राम गोपालरा जद। गोपालरा राम जद।

(१) रचना या व्याकरणिक गठन के आधार पर वाक्य-विभाजन और वाक्य-भेद

ऐसा वैज्ञानिक वाक्य-विभाजन जो सभी भाषाओं पर लागू हो सके, अभी तक भाषाविदों को नहीं मिल सका है। साधारण वाक्य में दो भाग होते हैं—एक आगे का और दूसरा पीछे का। इन्हें अग्रभाग और पश्चभाग कह सकते हैं। 'लड़का घर गया' में 'लड़का' अग्रभाग और 'घर गया' पश्चभाग है। इसे ही हिन्दी में क्रमशः उद्देश्य और विधेय कहा गया है। 'लड़का' उद्देश्य, तथा 'घर गया' विधेय है। जिसके विषय में कुछ कहा जाता है उसे उद्देश्य कहते हैं और जो कुछ कहा जाता है उसे विधेय कहते हैं। 'घर गया' लड़के के विषय में कहा गया है, इसलिए 'लड़का' उद्देश्य और 'घर गया' विधेय है। 'गया' एक ही समापिका क्रिया है, अतः 'लड़का घर गया' साधारण वाक्य है।

उद्देश्य की विशेषता को प्रकट करनेवाले पद उद्देश्य का विस्तार कहाते हैं। विधेय की विशेषता प्रकट करनेवाले पद विधेय का विस्तार कहाते हैं। साधारण वाक्य के विभाग (१) उद्देश्य, (२) विधेय।

उद्देश्य के विभाग : (१) कर्ता, (२) कर्ता का विस्तारक।

विधेय[1] के विभाग : (१) कर्म (२) कर्म का विस्तारक, (३) करण (४) करण का विस्तारक, (५) सम्प्रदान (६) सम्प्रदान का विस्तारक, (७) अपादान (८) अपादान का विस्तारक, (९) अधिकरण (१०) अधिकरण का विस्तारक, (११) पूरक (१२) पूरक का विस्तारक, (१३) क्रिया (१४) क्रिया का विस्तारक।

उदाहरण—सफेद कुर्तेवाला लड़का हरे कमरे में वैदिक धर्म की पुस्तक पढ़ रहा है।

(१) सफेद कुर्तेवाला लड़का—उद्देश्य।
(२) हरे कमरे में वैदिक धर्म की पुस्तक पढ़ रहा है—विधेय।

उद्देश्य { सफेद कुर्तेवाला—कर्ता का विस्तारक
लड़का—कर्ता

विधेय { हरे—अधिकरण का विस्तारक।
कमरे में—अधिकरण कारक।
वैदिक धर्म की—कर्म का विस्तारक।
पुस्तक—कर्मकारक।
पढ़ रहा है—क्रिया।

यह विभाजन उस साधारण वाक्य का है, जिसमें मुख्य समापिका क्रिया एक ही होती है। जिन वाक्यों में समापिका क्रियाएँ एक से अधिक होती हैं, उनमें कई

---

१. विधेय के सम्बन्ध में डॉ० दीमशित्स ने अपनी पुस्तक (हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा) में विस्तार से विचार किया है।

[illegible] में पड़ा रूप है सम्बन्धतत्त्व का रूप ।

विश्व की कुछ भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें केवल अर्थतत्त्व ही होता है और कुछ भाषाओं में अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्धतत्त्व का योग रहता है। जिन भाषाओं में केवल अर्थतत्त्व होता है उनमें शब्दों का स्थान ही सम्बन्धतत्त्व का काम करता है। जिन भाषाओं में केवल अर्थतत्त्व ही होता है उन्हें अयोगात्मक वाक्योंवाली भाषाएँ कहते हैं। जिन भाषाओं में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का योग रहता है वे योगात्मक वाक्योंवाली भाषाएँ कहाती हैं। अतः आकृति के आधार पर वाक्य प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं—(१) अयोगात्मक वाक्य, तथा (२) योगात्मक वाक्य ।

अयोगात्मक वाक्य—अयोगात्मक वाक्य के शब्दों का निर्माण प्रकृति-प्रत्यय के योग से नहीं होता । मान लीजिए कि तीन अर्थतत्त्व हैं—(१) मैं, (२) मारना, (३) तुम। इनके लिये चीनी भाषा में क्रमशः शब्द हैं—(१) न्गो (२) त (३) नि । एकाक्षर परिवार की चीनी भाषा में 'न्गो त नि' का अर्थ है 'मैं मारता हूँ तुमको' । यदि 'नि त न्गो' कहा जाए तो अर्थ होगा 'तुम मारते हो मुझको' । तात्पर्य यह कि स्थान-परिवर्तन से ही कर्ता, कर्म की स्थिति प्रकट हो रही है। प्रकृति-प्रत्यय का कोई योग नहीं है।

योगात्मक वाक्य—ऐसे वाक्य के शब्दों का निर्माण प्रकृति-प्रत्यय के योग से होता है। 'तुम' यदि कर्ता है तो 'तुम्हें' कर्म है। 'आना' क्रिया का सामान्य रूप है तो 'आया' भूतकालीन पुलिंग एकवचनीय रूप है। √ पढ़् धातु में 'आ' प्रत्यय से 'पढ़ा' रूप बनता है। 'पढ़ा' में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का योग है। 'लड़का' 'कुत्ता' 'मारना' यदि अर्थतत्त्व है तो इनमें सम्बन्धतत्त्व के योग से यह वाक्य भी बन

कहता है, 'लड़के ने कुत्ते को मारा'। पर इसे योगात्मक वाक्य कह सकते हैं। संस्कृत में 'बालकेन कुक्कुरः ताडितः' भी योगात्मक वाक्य है। हिंदी 'मारा'= प्रकृति (अर्थात् धातुरूप 'मार'+प्रत्यय (अर्थात् संबंधतत्त्व) 'आ'। संस्कृत ताडित
प्रकृति (अर्थात् अर्थतत्त्व) 'ताड'+प्रत्यय (अर्थात् संबंधतत्त्व) 'इत+

संस्कृत के 'ताडित' के अन्तर्गत 'त' जो कालसूचक प्रत्यय है और जिसमें (तः) लिंग तथा वचन सूचक प्रत्यय है। दोनों प्रत्यय ऐसे संश्लिष्ट हो गए हैं कि पृथक पृथक दृष्टिगत नहीं होते। इसी प्रकार 'बालकेन' का 'एन' प्रत्यय तृतीया विभक्ति के साथ-साथ लिंग एकवचन को भी प्रकट करता है। अतः भाषाविद् ने संस्कृत जैसी भाषा को विभक्तिप्रत्यय-प्रधान भाषा कहा है। जिन भाषाओं में कारक और वचन सूचक प्रत्यय अलग-अलग हैं उन्हें प्रत्यय-प्रधान भाषाएँ कहा गया है। दक्षिण की द्रविड़ भाषाएं प्रत्ययप्रधान हैं।

संस्कृत में 'गृहेषु' पद है। इसमें 'गृह्' प्रकृति (अर्थतत्त्व) और 'एषु' प्रत्यय (संबंधतत्त्व) है। 'एषु' प्रत्यय अधिकरण कारक (सप्तमी विभक्ति) और बहुवचन दोनों को प्रकट कर रहा है। किंतु तमिऴ् में इसके समानान्तर वीडुगळिल् पद है जिसमें 'वीडु' प्रकृति और 'गळ्' तथा 'इल्' दो प्रत्यय हैं। 'गळ्' बहुवचन को और 'इल्' अधिकरणकारकत्व को प्रकट कर रहे हैं। अतः तमिऴ् प्रत्यय-प्रधान भाषा है। ये दोनों प्रकार की भाषाएं (विभक्तिप्रधान और प्रत्ययप्रधान) वास्तव में योगात्मक भाषा के अन्तर्गत ही आती हैं।

हिन्दी		संस्कृत	तमिऴ्
घर में	=	गृहे (गृह्+ए)	=वीड्डिल् (वीडु+इल्)
घरों में	=	गृहेषु (गृह्+एषु)	=वीडुगळिल् (वीडु+गळ् +इल्)

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि हिंदी पर-सर्ग-प्रधान, संस्कृत विभक्ति-प्रधान, और तमिऴ् प्रत्यय-प्रधान भाषा है। विभक्ति-प्रधान भाषा को श्लिष्ट योगात्मक (Inflexional) भी कहते हैं। प्रत्यय-प्रधान भाषा अश्लिष्ट योगात्मक (Agglutinative) भी पुकारी जाती है। कुछ भाषाएं प्रश्लिष्ट योगात्मक (Completely Incorporative) होती है। उत्तरी अमेरिका की चेरोकी भाषा के वाक्य प्रश्लिष्ट योगात्मक होते हैं। उनमें वाक्य एक ऐसा सामासिक पद बन जाता है जिसमें कई शब्दों का योग रहता है। चेरोकी में निन (=हम), अमोखल (=नाव), और नातेन (=लाओ) से मिलकर वाक्य बनता है—'नाधोलिनिन' (=हमारे पास नाव लाओ)। इस 'नाधोलिनिन' वाक्य में 'निन', 'अमोखोल', और 'नातेन' शब्दों के अंश समाविष्ट हैं। अतः यह वाक्य प्रश्लिष्ट योगात्मक है।

सारांश यह कि योगात्मक वाक्य के तीन भेद हैं: (१) श्लिष्ट योगात्मक वाक्य, (२) अश्लिष्ट योगात्मक वाक्य, (३) प्रश्लिष्ट योगात्मक वाक्य।

(3) अर्थ या भाव के आधार पर वर्गभेद

[illegible] (Mood) [illegible] के आधार पर वाक्य [illegible] प्रकार के हो सकते हैं :

(1) निश्चयात्मक या [illegible] या निश्चयार्थसूचक वाक्य—लड़का किताब पढ़ेगा।

(2) निषेधात्मक वाक्य—लड़का किताब नहीं पढ़ेगा।

(3) आज्ञासूचक वाक्य—तुम किताब पढ़ो।

(4) इच्छा या विधिलिंगसूचक—आप कल मेरे घर आएँ।

(5) सम्भावनार्थसूचक—वही आता होगा। शायद आज पानी बरसे।

(6) सन्देहार्थसूचक—वह मेरे साथ चलेगा कि नहीं।

(7) प्रश्नार्थसूचक—क्या तुम किताब पढ़ोगे?

(8) विस्मयादिसूचक—अरे! वह अनुत्तीर्ण हो गया।

(9) संकेतार्थसूचक—राम यहाँ आता तो मैं जाता।

कभी-कभी सुराघात (गीतात्मक स्वराघात) के कारण भी वाक्य प्रश्नवाचक तथा विस्मयादिसूचक बन जाते हैं। हिन्दी में वाक्य-स्तर पर गीतात्मक स्वराघात की स्थिति पाई जाती है। वैसे गीतात्मक स्वराघात पद-स्तर पर तो वैदिक भाषा में ही था।

'तुम पढ़ रहा है' वाक्य को सम सुर में बोलें तो यह सामान्य अर्थ प्रकट करता है, लेकिन यदि इस को—विशेषतः 'पढ़ रहा है' को—विभिन्न सुरों से बोलें तो विस्मय, प्रश्न आदि का भाव व्यक्त हो सकता है।

वाक्य के निकटस्थ अवयव

प्रत्येक भाषा में प्रकृति के अनुसार अर्थ के दृष्टिकोण से कुछ निकटस्थ अवयव (immediate constituents) होते हैं। उन्हें वाक्यावयव या वाक्यांश कहते हैं। इन निकटस्थ अवयवों की जानकारी न होने पर ही वाक्य-रचना दोषपूर्ण हो जाती है। 'उसने एक फूलों की माला मुझे दी' वाक्य दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें एक माला निकटस्थ अवयव है जो अर्थ की दृष्टि से भी पास-पास आने चाहिए थे। शुद्ध वाक्य इस प्रकार होगा—

"उसने फूलों की एक माला मुझे दी।"

अंग्रेजी का वाक्य है—'*The horses of my brother* are running on the road" इसमें *horses* और *are running* अर्थात्मक दृष्टि से निकटस्थ अवयव हैं, क्योंकि 'घोड़े' दौड़ रहे हैं, न कि 'भाई'। वाक्य में देखने पर तो are running के निकट 'brother' है। स्पष्ट है कि निकटस्थ अवयव अर्थ की दृष्टि से पहचाने जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति को अंग्रेजी और हिन्दी के वाक्यों में निकटस्थ अवयवों की पहचान नहीं है तो वह अंग्रेजी से हिन्दी में ठीक अनुवाद नहीं कर सकता। एक व्यक्ति ने अंग्रेजी के एक वाक्य का हिन्दी अनुवाद यों किया था "यह पुस्तक कमला, जिसकी

याद ही रह गयी है, को सप्रेम समर्पित है"। इससे प्रकट है कि यह व्यक्ति हिन्दी के निकटस्थ अवयवों से अपरिचित था।

कभी-कभी वाक्य देखने पर निकटस्थ अवयवों का पता नहीं लग पाता, वक्ता के तात्पर्य से ही ठीक पता लग सकता है। वाक्य है, 'सफेद मेजें और अलमारियाँ रखी हैं'। इसके निकटस्थ अवयव इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं :

(१) सफेद मेजें और अलमारियाँ

(२) सफेद मेजें और अलमारियाँ

नम्बर एक के विश्लेषण से प्रकट है कि मेजें और अलमारियाँ (दोनों प्रकार की वस्तुएँ) सफेद हैं। नम्बर दो के विश्लेषण से प्रकट है कि 'मेजें' ही सफेद हैं, अलमारियों के विषय में रंग का प्रश्न नहीं।

'लड़का हो गया' वाक्य में निकटस्थ अवयव जब इस प्रकार होंगे—लड़का हो गया तब अर्थ होगा 'लड़का होकर गया'। जब निकटस्थ अवयव इस प्रकार होंगे—लड़का हो गया तब अर्थ होगा 'लड़का पैदा हुआ'।

'मेरा दिमाग चक्कर खा रहा है' में निकटस्थ अवयव इस प्रकार है—मेरा दिमाग चक्कर खा रहा है। यदि कोई निकटस्थ अवयव इस प्रकार करता है—मेरा दिमाग चक्कर खा रहा है तो अर्थ हो जायेगा कि 'दिमाग चक्कर को खा रहा है।' इस अर्थ में उक्त वाक्य नहीं है। वास्तव में 'चक्कर खा रहा' अवयव की एक इकाई है।

वाक्य के अवयव और उनके नाम

वाक्य के अवयव व्याकरण की भाषा में पद या शब्द कहाते हैं। ये शब्द संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, परसर्ग, समुच्चयबोधक अवयव, और विस्मयादिबोधक अवयव के नाम से पुकारे जाते हैं।

हिन्दी भाषा में 'लड़का' शब्द है, लेकिन 'लड़के ने रोटी खायी' में 'लड़के' पद है। मूल शब्द में जब विभक्ति-प्रत्यय का योग होता है तब पद बनता है। शब्द ध्वनियों की अर्थमय समष्टि है। 'लड़का' शब्द में ल्+अ+ड़्+क्+आ की समष्टि है।

अतः भाषाविज्ञान के अध्ययन में हम वाक्य से पद, पद से शब्द, और शब्द से ध्वनियों की ओर बढ़ते हैं और अध्ययन करते हैं। समष्टि रूप से वाक्य के अध्ययन में सबका अध्ययन समाया हुआ है।

अर्थविचार

डॉ० [illegible] शर्मा

[illegible] के [illegible] के रूप में विकसित [illegible] [illegible] भाषा के अन्तर्गत [illegible] का भाषा के क्षेत्र में कोई [illegible] है। [illegible] (१।१०।४) में [illegible] वाणी को 'वाग्रामपुष्पम्' (अर्थात् [illegible]) [illegible] है, [illegible] निरुक्त (१।२०) में इस [illegible] किया है —'[illegible]' (अर्थात् अर्थ को वाणी का फल और पुष्प कहा गया है)।[1] शब्द का प्रयोग किसी पदार्थ का बोध कराने के उद्देश्य से किया जाता है। [illegible] के लिए भी शब्दों का प्रयोग करते हैं। अर्थ भाषा की आत्मा है। 'भाषा-शास्त्र' में [illegible] भाषा के पक्ष ([illegible]) से सबद्ध है। इस प्रकार अर्थतत्त्व का विवेचन भाषा के पक्ष या [illegible] के अन्तर्गत आता है।[2]

भाषा (वाणी) और अर्थ का अटूट संबंध है। शब्द और अर्थ अश्विनीकुमारों की भाँति जुड़े हुए हैं। महाकवि कालिदास ने पार्वती और परमेश्वर की वन्दना करते हुए उन्हें 'वागर्थाविव संपृक्तौ' (रघुवंशम् १।१) स्वीकार किया है। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी सीता और राम के चरणों की वन्दना करते हुए उन्हें वाणी और अर्थ की भाँति अभिन्न मानते हैं—

> गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
> बदौं सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
>
> —रामचरितमानस, बालकाड, दोहा स० १८।

कुछ दार्शनिक शब्द और अर्थ का नित्य संबंध नहीं मानते। वैशेषिक दर्शन में शब्द को अर्थ से असम्बद्ध कहा गया है, 'शब्दार्थावसंबद्धौ' (वैशेषिक दर्शनम्, ७।२।१८)। इनके अनुसार घट आदि शब्द मुख से निसृत होते हैं तथा घडा आदि पदार्थ (जो घट का

१ डॉ० भोलानाथ तिवारी : भाषाविज्ञान (प्रथम संस्करण), पृ० २।
२. डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल : सुगबोध भाषाविज्ञान, पृ० ३२६।
३ डॉ० शिवनाथ : अर्थतत्त्व की भूमिका, पृ० १०।

रूप है) दूसरी ओर है, तो ये दोनों परस्परसम्बद्ध कैसे हो सकते हैं और फिर शब्द के साथ अर्थ का नित्य संबंध मानें तो शब्द का अर्थ त्रिकाल में एक ही होना चाहिए। किन्तु लोक व्यवहार में देखा जाता है कि शब्दों के अर्थ में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ के नित्य संबंध का तात्पर्य केवल यही है कि प्रत्येक शब्द में कोई अर्थ होता है। किन्तु किसी शब्दविशेष में कौन-सा अर्थ है यह बात देश, काल, और समाज पर निर्भर है। समय समय पर शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं।[1]

ऊपर कहा जा चुका है कि देश, काल, एवं समाज के अनुसार शब्दों के अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, 'कुशल' शब्द का मूल अर्थ है 'जो कुश तोड़ लावें' (कुशान् लाति इति कुशलः)। हाथ को क्षतविक्षत किए बिना कुशों को लाना दुष्कर है पर जो व्यक्ति अपने शरीर को सुरक्षित रखते हुए कुशों को तोड़ लाता था वह चतुर माना जाता था। इसी आधार पर किसी भी कार्य में निपुण व्यक्ति कुशल कहलाने लगा।

प्राचीन काल में 'मृग' शब्द का अर्थ 'पशु' था इसलिए पशुओं के शिकार के लिए 'मृगया' शब्द प्रचलित हुआ तथा 'मृगराज' का अर्थ सिंह हुआ। पालि के 'कुरुंगमिग जातकम्' में 'कुरुंगमिग' का अर्थ 'हरिण पशु' है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने शाखाओं पर विचरण करनेवाले पशु-बन्दर के लिए 'शाखामृग' शब्द का प्रयोग किया है :

शाखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई ॥

—रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड ३२।७।

किन्तु आज 'मृग' शब्द हरिण के अर्थ में सीमित हो गया है।

संस्कृत 'दुहितृ' का शाब्दिक अर्थ है 'दुहनेवाली' किन्तु इसका प्रचलित अर्थ 'पुत्री' है। इसका यह अर्थ मूलार्थ से एक दम दूर जा पड़ा है। इससे निष्पन्न 'दुहिता' और 'धी' शब्द हिन्दी में पुत्री के अर्थ में ही प्रचलित हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों पर ध्यान देने से यह तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख आता है कि कहीं तो शब्द के अर्थ में विस्तार होता है और कहीं सङ्कोच, तथा कहीं वह अपने मूलार्थ से एक दम भिन्न हो जाता है।

अर्थविज्ञान के प्रसिद्ध मनीषी फ्रांसीसी विद्वान् ब्रील ने *अर्थ-विकास की तीन* दिशाएँ मानी हैं :

(१) अर्थविस्तार (Expansion of meaning)

(२) अर्थसङ्कोच (*Contraction* of meaning)

(३) अर्थादेश (Transference of meaning)

---

१. पटना विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित डॉ० बाबूराम सक्सेना की व्याख्यान-माला 'अर्थविज्ञान' पर आधारित।

कुछ विद्वान् इनके अतिरिक्त अर्थ-परिवर्तन की दो और दिशाएँ मानते हैं—अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष। श्री [illegible] ने अर्थ-परिवर्तन के प्रसंग में अर्थ के मूर्तीकरण तथा अमूर्तीकरण का भी उल्लेख किया है। वास्तव में अर्थपरिवर्तन के ये रूप भी ऊपर के द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त तीन दिशाओं में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, तथापि स्पष्टता के विचार से इनका विस्तारपूर्वक अलग-अलग उल्लेख करना उचित होगा।

अर्थ विस्तार : जब शब्द का अर्थ अपने मूल रूप से व्यापक अथवा विस्तृत हो जाता है तो इसे 'अर्थ-विस्तार' कहते हैं। हिन्दी में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनमें अर्थ का पर्याप्त विस्तार हुआ है। उदाहरणार्थ, 'तैल' शब्द का मूलार्थ है 'तिल का सार' किन्तु अब इस 'तैल' अथवा 'तेल' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। अब सरसों, नारियल, और मूंगफली आदि के तेल के साथ-साथ बेला और चमेली का भी तेल होता है। यहाँ तक कि अब मछली का तेल तथा मिट्टी का भी तेल है। कोई व्यक्ति बड़ा परिश्रम करते-करते पसीने से तर हो जाए तो कहता है 'आज तो अपना तेल निकल गया' और चाटुकारी के लिए आज 'तेल मालिश' का प्रयोग चल पड़ा है।

'अतिथि' शब्द में भी पर्याप्त अर्थ-विस्तार हुआ है। इस शब्द का मूल अर्थ था—वह व्यक्ति जिसके आगमन की कोई पूर्व तिथि निर्धारित न हो—'न तिथिर्यस्य सोऽतिथि.'। उसके सम्बन्ध में कहा गया है :

> यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थिति ।
> अकस्माद् गृहमायाति सोऽतिथि प्रोच्यते बुधैः ॥

अर्थात् जिसके नाम, धाम, जाति के सम्बन्ध में जानकारी न हो और जो अकस्मात् घर आए वह अतिथि कहा जाता है। मार्कण्डेय पुराण में अतिथि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—'अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठतीति अतिथि.' अर्थात् जो निरन्तर चलता रहता है और एक स्थान पर (अधिक समय) नहीं ठहरता, वह अतिथि है। किन्तु आज ऐसे सज्जन जिनके आगमन की तिथि पूर्वनिर्धारित रहती है, अतिथि कहलाते हैं। अनेक ऐसे मित्र जिन्हें हम अपने यहाँ चाय आदि पर आमंत्रित करते हैं, अतिथि कहे जाते हैं। यहाँ तक कि बाहर से आनेवाले अपने सम्बन्धियों को भी लोग अतिथि कहते हैं। इस प्रकार अतिथि शब्द के अर्थ में पर्याप्त विस्तार हुआ है।

'गोष्ठी' शब्द गोष्ठ से निष्पन्न है। यह गो+स्थ के योग से बना है। प्राचीन काल में गायों के बाँधने के बाड़े गोष्ठ कहलाते थे। हलायुध कोश की टीका में इसका निर्वचन दिया गया है—'गावस्तिष्ठन्त्यत्र इति' अर्थात् गोष्ठ वह स्थान है जहाँ गाएँ रहती हैं। अथर्ववेद में साम्यमूलक आधार पर इस शब्द के अर्थ का विस्तार हुआ है। यहाँ यह पशुओं के रहने के स्थान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में दिखाई पड़ता है—'इम गोष्ठं पशवः समवन्तु'। आगे चलकर इसी के आधार पर गोगोष्ठ (गायों का बाड़ा), महिषगोष्ठ (भैंसों का बाड़ा), अश्व

प्रविगोष्ठ(भेड़ों का बाड़ा) आदि शब्द प्रचलित हुए। प्राकृत-साहित्य में पशुओं की गोचरभूमि के लिए 'गोट्ठ' शब्द का प्रयोग मिलता है।

आज 'गोष्ठी' का विस्तार मानव-समाज तक है। प्रारम्भ में समान शीलवाले व्यक्तियों के समूह के लिए 'गोष्ठी' का प्रयोग होता था— 'समानशीलजनसमूहः गोष्ठी'। 'संगीत दामोदर' ग्रंथ में गोष्ठी के लिए संगीत आवश्यक माना गया है, किन्तु अब गोष्ठी कवियों की हो सकती है और साहित्यकारों की भी।

इसी प्रकार अभ्यास, कुशल, गवेषणा, प्रवीण, एवं स्याही आदि शब्दों में भी पर्याप्त अर्थ-विस्तार हुआ है :

अभ्यास —मूलतः बाण फेंकने के लिए प्रयुक्त।
कुशल —कुशान् लाति इति कुशल —कुश लाने में चतुर।
गवेषणा —(मूल अर्थ) गायों की खोज।
प्रवीण —प्रकृष्टा ससाधिता वीणाऽस्य—वीणा बजाने में दक्ष।
स्याही —(मूल अर्थ) काली स्याही।

कभी-कभी कुछ विशिष्ट व्यक्तिवाचक नाम सामान्य अर्थ में प्रचलित हो जाते हैं। ऐसे शब्दों में भी अर्थ-विस्तार हो जाता है, उदाहरणार्थ, 'सत्यवादी' हरिश्चन्द्र कहलाते हैं और देशद्रोही जयचन्द तथा इधर-की-उधर लगाकर झगड़ा कराने वाले नारद की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं।

अर्थसंकोच : जब शब्द का प्रयोग सामान्य या व्यापक अर्थ की अपेक्षा संकुचित अथवा सीमित अर्थ में होता है तो इसे अर्थ-संकोच कहते हैं। भाषाविज्ञानियों का विचार है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामान्य से विशिष्ट की भावना आती गई, और इस प्रकार शब्दों के अर्थ भी संकुचित होते गए। प्रसिद्ध अर्थविज्ञानी ब्रील के अनुसार जो राष्ट्र या जाति जितनी ही विकसित होगी उसकी भाषा में अर्थ-संकोच की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक होगी। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द प्रस्तुत हैं जिनमें अर्थ संकोच स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

'भार्या' शब्द का मूलार्थ है 'भरणीया इति' अर्थात् जिसका भरणपोषण किया जाए वह भार्या है। किन्तु भरण-पोषण तो वृद्ध माता-पिता एवं संतति का भी किया जाता है पर भार्या शब्द पत्नी के अर्थ में रूढ़ हो गया है। कहीं-कहीं तो इसके विपरीत पत्नी ही पतिदेव का भरण-पोषण करती है, फिर भी वह भार्या ही कहलाती है।

घृत शब्द √घृ धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है सींचना, इसलिए प्राचीन काल में घृत का अर्थ 'जल' भी प्रचलित था और आज भी कोशों में इसका यह अर्थ मिलता है (देखिए बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ४१६) किन्तु अब इसका प्रचलित अर्थ 'घी' ही है।

'पर्वत' शब्द का मूल अर्थ है पर्व अर्थात् पोरोंवाला—'पर्वाणि सन्त्यस्य'। पोरें तो गन्ने, नरकुल, एवं सरकंडे आदि में भी होते हैं किन्तु हम उन सबको पर्वत नहीं कहते। अब पर्वत का अर्थ पहाड़ है। 'गर्त' का शब्दार्थ है, जो गड्ढा हो या गड्ढ

असुर शब्द भी अर्थादेश का अच्छा उदाहरण है। ऋग्वेद की प्रारम्भिक ऋचाओं में असुर शब्द का प्रयोग देवता के अर्थ में हुआ है। ईरानी 'अहुर' शब्द में यह अर्थ आज भी सुरक्षित है। किन्तु बाद में इसके आदि 'अ' को निषेधात्मक प्रत्यय मानकर असुर का अर्थ राक्षस किया जाने लगा और सुर शब्द देवता का वाचक हो गया। संस्कृत के देवतावाचक 'देव' शब्द का अर्थ फारसी में राक्षस है। बहुत सम्भव है इसमें पारसियों की हिन्दुओं से बदला लेने की भावना काम कर रही हो।

अवधी का 'माहुर' शब्द संस्कृत 'मधुर' का विकृत रूप है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'माधुर्य से युक्त', किन्तु व्यवहार में इसका अर्थ विष है। इसका यह अर्थ सम्भवतः इसलिए प्रचलित हुआ कि विष प्रायः मधुर पदार्थ में मिला कर दिया जाता था।

सं० साधु के विकृत रूप 'साहु' का अर्थ हिन्दी में साहूकार है। बंगला का बाड़ी शब्द, जो सं० वाटिका से निष्पन्न है, घर के अर्थ में प्रचलित है। जुगुप्सा शब्द √गुप् धातु से बना है जिसका अर्थ है गुप्त रखना या छिपाना, किन्तु अब इसका अर्थ घृणा, अथवा निन्दा है। अरबी 'गुलाम' शब्द का अर्थ बच्चा है किन्तु हिन्दी में इसका अर्थ दास है।

अर्थोत्कर्ष—जब शब्द के अर्थ में परिवर्तन होने पर पहले की अपेक्षा उन्नत

अर्थ आ जाता है तो वह अर्थोत्कर्ष कहलाता है। भाषा में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनमें पहले निकृष्ट अर्थ निहित था किन्तु अब वे अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत में 'साहस' का अर्थ 'बुरा काम' था। साहस पाँच प्रकार का कहा गया है—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्,
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पञ्चधास्मृतम्।

साहस से निर्मित 'साहसिक' शब्द का अर्थ डाकू है किन्तु हिन्दी में साहस का अर्थ 'जीवट' या 'हिम्मत' है और यह एक गुण माना जाता है।

सं० कर्पट शब्द का अर्थ है जीर्ण वस्त्र 'पटच्चरं जीर्णवस्त्रं' (अमरकोश)। पालि-प्राकृत-काल में भी इसके तद्भव रूप 'कप्पट' का प्रयोग फटे वस्त्र के अर्थ में होता था किन्तु इसके हिन्दी रूपान्तर 'कपड़ा' में यह भाव नहीं पाया जाता। हिन्दी में अच्छे बुरे सभी कपड़ों के लिए कपड़ा शब्द प्रचलित है। मूल्यवान् रेशमी और ऊनी वस्त्र भी यहाँ कपड़ा ही कहलाता है।

संस्कृत में 'मुग्ध' का अर्थ 'मोह या भ्रम में पड़ा हुआ' तथा 'मूर्ख' या 'मूढ़' था (देखिए संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ८६७)। किन्तु हिन्दी में 'मुग्ध' शब्द से मूढ़ता का भाव समाप्त हो गया है। आज भक्त भगवान् के रूप को देखकर मुग्ध होते हैं। इसी प्रकार मुग्धा नायिका में भी भोलेपन का प्राधान्य है।

पहले 'फिरंगी' शब्द का अर्थ पुर्तगामी डाकू था। किन्तु बाद में यह सभी यूरोपियनों के लिए व्यवहृत होने लगा। अंग्रेजी क्वीन (Queen) शब्द का पुराना अर्थ 'स्त्री' था। अब इसका अर्थ 'महारानी' है। इन सभी शब्दों में अर्थ का उत्कर्ष हुआ है।

अर्थापकर्ष—जब शब्द के अर्थ में परिवर्तन होने पर उसमें अच्छे अर्थ के स्थान पर निकृष्ट अर्थ का भाव आ जाता है तो वह अर्थापकर्ष कहलाता है। यह अर्थोत्कर्ष का ठीक उल्टा है। उदाहरणार्थ, कुछ शब्द प्रस्तुत हैं :

'जुगुप्सा' शब्द √गुप् धातु से बना है जिसका मूल अर्थ छिपाना है। किन्तु अब यह घृणा के अर्थ में प्रचलित है। बीभत्स रस का स्थायी भाव 'जुगुप्सा' है। संस्कृत 'लिंग' शब्द का अर्थ 'चिह्न' है किन्तु धीरे-धीरे इसके अर्थ में अपकर्ष हो रहा है और सभ्य समाज में यह अश्लील माना जाने लगा है।

सं० 'पदाति' शब्द का अर्थ 'पैदल सैनिक' या 'पैदल चलनेवाला' था। इससे निष्पन्न हिन्दी 'पाजी' शब्द का भी पहले यही अर्थ था, यथा मलिक मोहम्मद जायसी की निम्नलिखित पंक्ति में—

सहस सहस तहँ बैठे 'पाजी'।
पदमावत ४१/२।

किन्तु अब इसका अर्थ 'दुष्ट' या बदमाश है।

तुर्की भाषा में 'उजबक' तातारियों की एक जाति थी। इसके पतन के साथ साथ इस शब्द के अर्थ की अवनति हुई और उजबक का अर्थ 'मूर्ख' अथवा 'उजड्ड'

होगा। अरबी 'खलीफा' शब्द का मूल अर्थ उत्तराधिकारी था। हजरत मोहम्मद साहब के उत्तराधिकारी, जो मुसलमानों के प्रधान नेता माने जाते थे, खलीफा कहलाते थे। किन्तु अब हज्जाम, मिस्त्री, दरजी आदि भी इस उपाधि से विभूषित किए जाते हैं।

अंग्रेजी के 'कान्स्टेबिल' शब्द का पुराना अर्थ अफसर था किन्तु अब इसका प्रयोग पुलिस के एक साधारण सिपाही के लिए होता है।

मूर्तीकरण—जब भाव, क्रिया, गुण आदि अमूर्त पदार्थवाचक शब्द मूर्त पदार्थ के अर्थ को प्रकट करें तो इसे अर्थ का मूर्तीकरण कहेंगे। उदाहरणार्थ, सं० संतति शब्द का मूल अर्थ 'फैलाव' या 'अविच्छिन्नता' है किन्तु अब इसका अधिक प्रचलित अर्थ सन्तान (औलाद) है। इसी प्रकार 'मीठा' तथा 'नमकीन' सामान्यतया गुणवाचक विशेषण है किन्तु 'दो रुपए का मीठा और एक रुपए का नमकीन लेते आना' वाक्य में मीठा तथा नमकीन का अर्थ मूर्त पदार्थ है। Black of the lamp में भी 'Black' का अर्थ स्याह न होकर 'स्याही' है।

अमूर्तीकरण—जब मूर्त पदार्थवाचक शब्द अमूर्त अर्थ को द्योतित करे तो इसे अमूर्तीकरण कहा जाएगा। यह मूर्तीकरण का विलोम है। यथा—'उससे लड़ने के लिए बड़ा कलेजा चाहिए' में 'कलेजा' शब्द का अर्थ हृदय नहीं अपितु 'साहस' है। इसी प्रकार 'उस पर अंकुश रखना आवश्यक है' वाक्य में 'अंकुश' शब्द का अर्थ 'दबाव' है।

अर्थ-परिवर्तन के कारण

मानव के चिन्तन में निरन्तर परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहता है। अतः उसके विचार भी तदनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। भाषा विचारों की वाहिका है। प्रत्येक शब्द मानव के किसी विचार-खण्ड का प्रतीक है। फलस्वरूप विचारों में परिवर्तन के साथ-साथ शब्दों के अर्थ में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अनेक सामाजिक, धार्मिक, एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ मानव के चिन्तन को प्रभावित करती रहती हैं। साथ ही भौगोलिक तथा स्थान-सम्बन्धी परिवर्तन भी उसकी विचार-सरणि को प्रभावित करते हैं। यह विचार-परिवर्तन ही वस्तुतः शब्दार्थ-परिवर्तन का मूल कारण है। कभी-कभी अज्ञान के कारण भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन देखा जाता है।

जातीय मनोविज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण अर्थ-परिवर्तन के कारणों की खोज एक दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार कुछ शब्दों के अर्थ-परिवर्तन में एकाधिक कारण दिखाई पड़ते हैं। अर्थ-परिवर्तन के कारणों की दिशा में अभी पर्याप्त खोज नहीं हुई है यद्यपि विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया है। यहाँ अर्थ-परिवर्तन के प्रमुख कारणों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

(१) वातावरण में परिवर्तन—वातावरण में परिवर्तन के कई रूप हो सकते हैं। अतः इन पर अलग-अलग विचार करना उपयुक्त होगा

(क) भौगोलिक

(ख) सांस्कृतिक

(ग) सामाजिक

(घ) भौतिक

(क) भौगोलिक वातावरण—इसके अन्तर्गत प्राकृतिक पदार्थ यथा नदी, वन, पर्वत, वृक्ष आदि आते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी में कॉर्न (corn) का अर्थ अन्न है पर भौगोलिक वातावरण में परिवर्तन हो जाने से अमेरिका में इसका प्रयोग मक्का के लिए होता है। मक्का अमेरिका का प्रधान अन्न था और वहाँ के निवासी पहले मुख्यतः इसे ही खाते थे।

यूरोप एक शीतप्रधान देश है। वहाँ के निवासी अपने नित्यप्रति के व्यवहार में मदिरा का प्रयोग करते हैं। अत अंग्रेजी में ड्रिंक (drink—मूल अर्थ 'पीना') शब्द मदिरापान के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु भारत में सर्वसाधारण जल का ही पान करते हैं अत. यहाँ 'पीना' साधारणत जल पीने के लिए प्रचलित है।

ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में 'उष्ट्र' का प्रयोग जंगली बैल के लिए हुआ है। किन्तु बाद में इसका प्रयोग ऊँट के लिए होने लगा। अनुमान है कि जब आर्य लो' मरुभूमि में आये होंगे तब उन्होंने 'उष्ट्र' में इस नवीन अर्थ का आधान किया होगा।

(ख) सांस्कृतिक वातावरण—संस्कृति एवं धर्म से मानव का अटूट सबंध है अतः इनका प्रभाव भाषा पर भी पड़ना अवश्यम्भावी है। प्राचीन भारत में स्वयंव प्रथा प्रचलित थी और कुमारियाँ अपने पति का वरण करती थीं। अत वह 'व' कहलाता था। आज स्वयंवर-प्रथा का लोप हो गया है तथापि 'वर' का प्रयोग दूल् के लिए आज भी चल रहा है।

वैदिक संस्कृत यज्ञप्रधान थी। उस समय 'यजमान' वह व्यक्ति कहलाता थ जो अपने यहाँ यज्ञ कराता था। यज्ञ-प्रथा के ह्रास के साथ-साथ उसका वह अर्थ भी समाप्तप्राय हो गया। आज किसी भी गृहस्थ को पुरोहित 'यजमान' कहकर संबो- धित करते है भले ही यज्ञ से उसका कोई सम्बन्ध न हो।

प्राचीनकाल में वेद-वेदांग की शिक्षा देनेवाले उपाध्याय, अग्निहोत्र करनेवाले अग्निहोत्री, तथा यज्ञ करनेवाले वाजपेयी कहलाते थे। इसी प्रकार दो, तीन, चार वेदों में पारंगत ब्राह्मण क्रमश. द्विवेदी, त्रिवेदी, तथा चतुर्वेदी कहे जाते थे। किंतु आज ये सभी शब्द अपने मूल अर्थ से दूर जा पड़े है तथा जातिगत उपनाम मात्र होकर रह गए हैं।

(ग) सामाजिक वातावरण—सामाजिक वातावरण मे परिवर्तन के साथ-साथ शब्दों के अर्थों में भी पर्याप्त अन्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के सिस्टर (sister) शब्द का अर्थ साधारणत 'बहन' है किंतु समवयस्क बालिकाओं के बीच में अर्थ 'सखी,' गिरजाघर में 'संगिनी', तथा अस्पताल में 'नर्स' है। हिंदी में 'बहिन जी' 'माता जी' शब्दों के अर्थ में भी इसी प्रकार का परिवर्तन आ गया है। समाज में हम सामान्यतया किसी भी लड़की को 'बहिन जी' तथा किसी भी प्रौढ़ स्त्री को 'माता जी' कहकर सम्बोधित करते है। इसी प्रकार नाई का 'खत काटना' तथा सर-

[illegible] भिन्न अर्थ प्राप्त करते हैं।

(घ) भौतिक वातावरण—भौतिक वातावरण में परिवर्तन से भी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'पत्र' और 'ग्रन्थ' शब्द इसके अच्छे उदाहरण हैं। प्राचीनकाल में संदेश आदि पत्तों पर लिखकर भेजे जाते थे। अतः उनका 'पत्र' नाम सार्थक था। किन्तु आज अपेक्षाकृत कागज पर लिखा हुआ संदेश भी पत्र कहलाता है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में पुस्तकें भोजपत्र तथा तालपत्र पर लिखी जाती थीं और उनमें छेद करके उनका ग्रथन कर दिया जाता था। अतः उन्हें 'ग्रन्थ' कहते थे। आज इस प्रक्रिया के अभाव में भी पुस्तक ग्रन्थ कहलाती है।

हिंदी में 'गिलास' शब्द पात्रविशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह अंग्रेजी के ग्लास (glass) शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'शीशा'। भारतवर्ष में पहले गिलास शीशे के बने। किन्तु आज पीतल, फूल तथा लोहे के भी गिलास बनते हैं।

प्राचीनकाल में सींक की नोक पर रुई लपेटकर भित्तिचित्रों आदि के रँगने का कार्य करते थे अतः उसे तूलिका कहते थे। अब चित्रों को रँगने के लिये विभिन्न पशुओं के बालों से ब्रश बनते हैं, उन्हें भी हिंदी में 'तूली' या तूलिका कहा जाता है।

अंग्रेजी पेन (pen) लैटिन पेन्ना (penna) से बना है, जिसका अर्थ पंख है। प्राचीन काल में कलम पंखों की बनती थी। अब लोहे की निबवाली कलम को भी 'पेन' कहते हैं।

(ङ) अशुभ के लिए शोभन प्रयोग—मानव अशुभ, अमंगल, एवं अश्लील से बचने का प्रयास करता है। अतः ऐसे अर्थ के व्यंजक शब्दों के अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी तो यह परिवर्तन सर्वथा विपरीत दिशा में होता है।

मृत्यु मानव-जीवन की एक अशुभ घटना है। मानव उसे सीधे शब्दों में व्यक्त नहीं करना चाहता अतः मृत्यु के लिए 'स्वर्ग सिधारना' 'बैकुण्ठवासी होना' 'पंचत्व-प्राप्ति' आदि शब्द प्रचलित हैं। काव्य में मरण के लिए 'दसम अवस्था' शब्द का प्रयोग मिलता है। फारसी के 'फिर्दौस मकानी' तथा 'जन्नत आशियानी' (स्वर्ग में रहनेवाला) शब्द भी इसी अर्थ को व्यक्त करते हैं। अरबी में मृतक के लिए 'मरहूम' शब्द प्रचलित है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—'जिस पर खुदा ने रहमत की है'।

इसी प्रकार स्त्री का वैधव्य 'माँग का सिंदूर पुँछना' 'सुहाग लुटना' 'चूड़ी फूटना' आदि शब्दों द्वारा सूचित किया जाता है।

उर्दू की शाइस्ता शैली में किसी बड़े आदमी के अस्वस्थ होने पर कहा जाता है 'हुजूर के दुश्मनों की तबियत नासाज है'।

'दूकान बंद करना' तथा 'दिया बुझाना' में अमंगल का भाव निहित है। अतः इनके लिए 'दिया बुझाना' तथा 'दूकान बढ़ाना' शब्द प्रचलित हैं। रहीम ने अपने एक दोहे में दिया बढ़ने का सुन्दर प्रयोग किया है—

ज्यों रहीम गति दीप की कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो करै बढ़े अँधेरो होय॥

अश्लीलताव्यंजक भावों को भी घुमा-फिराकर व्यक्त किया जाता है। इसी-लिए निपटार्थ मलत्याग को 'टट्टी जाना' 'दिशा मैदान जाना' अथवा 'पैर जाना' कहते हैं। इसके लिए फारसी में 'पाखाना' शब्द प्रचलित है, जिसका अर्थ है 'पैर रखने का स्थान'।

लज्जाबोधक शब्दों का भी प्रत्यक्ष रूप से उच्चारण उचित नहीं माना जाता है। इसी कारण गर्भावस्था को हिन्दी में 'पैर भारी होना' तथा अंग्रेजी में 'टु बी इन फेमिली वे' (To be in family way) कहा जाता है।

मानव कटुता एवं भयंकरता के भाव से बचना चाहता है इसीलिए सांप को 'कीड़ा', बिच्छू को 'टेढ़की', तथा अंगार को 'माई को सिरना' कहा जाता है। इसी प्रकार टी० बी० को 'बड़ी बीमारी' तथा प्लेग को 'महामारी' कहते हैं।

(३) शिष्टता एवं नम्रता प्रदर्शन—शिष्ट-व्यवहार एवं नम्रता मानव का आभूषण है। इससे भी अर्थ में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। शिष्टतावश ही हम भंगी को 'जमादार' या 'मेहतर' (महत्तर=सर्वाधिक महान्), दर्जी को 'मास्टर' भिश्ती को 'सकीया', धोबी को बरेठा (वरिष्ठ), रसोइए को महाराज, तथा बर्तन माँजनेवाले को 'महरा' (मुखिया) कहते हैं। अंधे को सूरदास कहने में भी शिष्टता का भाव निहित है। सम्मान प्रकट करने के लिए बहुत बार हम कम्पाउन्डर को डाक्टर साहब, सिपाही को दीवानजी, तथा मुंसिफ को जज साहब कहते हैं।

विनम्रतावश हम दूसरे के साधारण मकान को 'दौलतखाना' तथा अपने सुसज्जित भवन को 'कुटिया' कहते हैं। दूसरा हमारे लिए 'फरमाता' है और हम स्वयं 'अर्ज' करते हैं। दूसरा 'गरीबपरवर' है और हम' तावेदार' हैं। दूसरे का पुत्र 'साहब-जादा' है और हमारा पुत्र 'हुजूर का खादिम'।

नम्रता-प्रदर्शन में जापानी भाषा संसार में अग्रगण्य मानी जाती है। उसमें आदरसूचक शब्दावली का अलग ही विकास हुआ है और इसका प्रयोग केवल राज-परिवार के सदस्यों तथा आभिजात्य वर्ग के लोगों के लिए होता है।

(४) मुहावरे और कहावतें—मुहावरों के प्रयोग में लाक्षणिकता एवं व्यञ्जना-त्मकता के प्रयोग पर विशेष ध्यान दिया जाता है। ये प्रायः रूढ़ अर्थ में प्रचलित हो जाते है। उदाहरणार्थ : 'ओं सत हिए तो सीतल आगी,' 'सांच को आंच नहीं', 'हारिए न हिम्मत,' 'गए मरोरत हाथ' आदि मुहावरों में वाच्यार्थ से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यहां प्रथम मुहावरे में ही अग्नि के शीतल होने से तात्पर्य सभी परीक्षाओं में सफल होने से है। इसी प्रकार आंख आना, आंखें चार होना, आंख मिलाना, आंखें लड़ाना, आंख का पानी मरना, आंख गड़ाना, आंख चुराना, आंखें बिछाना, आंखों में समाना, आंखों में रात बिताना, आंखें पथराना, आंखें मुँदना आदि मुहावरों में आंखों के जो विभिन्न क्रियाकलाप का वर्णन किया गया है वह लक्ष्यार्थ से ही सिद्ध हो सकता है।

कहावतों में प्रयुक्त शब्द कुछ प्रतीकमात्र बनकर रह जाते हैं। उनका शाब्दिक

किसी की मूर्खता पर उसे 'गधा' बताते हैं तो यह रूपकातिशयोक्ति है। इसी आधार पर देशद्रोही 'जयचन्द', परिवारद्रोही 'विभीषण', और विश्वासघाती 'आस्तीन के साँप' कहे जाते हैं।

वक्रोक्ति अलंकार में शब्दों का अर्थ अपने मूलार्थ से पूर्णतः भिन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ—'बहु बरि तव गुन-गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई।।' अंगद ने रावण से कहा—'तुम्हारी गुणग्राहकता पवनसुत हनुमान ने मुझे यथार्थ रूप में सुना दी है। यहाँ 'गुणग्राहकता' का वास्तविक तात्पर्य 'धूर्तता' से है।

इसी प्रकार उपमा, अपह्नुति, व्यतिरेक, विशेषोक्ति आदि अलंकारों में अर्थ-परिवर्तन देखा जा सकता है।

(५) शब्द-शक्ति—शब्द की लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति द्वारा अर्थ में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। जब हम रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए पूछते हैं—'कौन-सा स्टेशन आ गया' तो हमारा तात्पर्य यही होता है कि गाड़ी किस स्टेशन पर पहुँच गई है क्योंकि स्टेशन तो निर्जीव होने के कारण चल नहीं सकता। यह अर्थ शब्द की लक्षणा शक्ति द्वारा सिद्ध होता है। 'भारत शांतिप्रिय है' तथा 'पंजाब वीर है' प्रयोग भी ऐसे ही हैं। व्यंजना के द्वारा भी शब्द में गूढ़ अर्थ का आधान होता है। काव्य में इसका विशेष महत्त्व है। व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य उत्तम माने जाते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

चलत पाय निगुनी गुनी धन मनि मुतियन माल।
भेंट होत जयसाह सों भाग चाहियतु भाल।।

—बिहारी

प्रस्तुत दोहे मे 'जयसिंह का अद्वितीय दानी' होना व्यंग्यार्थ द्वारा सिद्ध होता है।

(६) कलाकारों की निरंकुशता—कवि-कलाकार नए शब्द तो गढते ही हैं, वे उनमे नए अर्थों का भी आधान करते हैं। जायसी, कबीर, सूर आदि की रचनाओं मे ऐसे अनेक निरंकुश प्रयोग मिलते हैं। आधुनिक काल मे छायावादी कवियों मे निराला और पंत ने अनेक शब्दो का नवीन अर्थ में प्रयोग किया है। जायसी ने निम्नलिखित पक्ति मे निरास (निराश) शब्द का प्रयोग 'निरपेक्ष' अर्थ में किया है :

'बहुत धूम घूँटत मैं देखे उतरु न देइ निरास'

पदमावत, ११४/६

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने गाधी को 'अछूत' शब्द द्वारा सबोधित किया है। 'अछूत' से उनका तात्पर्य है 'जो सब प्रकार की छुआछूत से मुक्त थे'।

जग पीड़ित छूतों से प्रभूत, छू अमृत स्पर्श से हे अछूत।
तुमने पावन कर मुक्त किए मृत संस्कृतियों के विकृत भूत॥

—'बापू के प्रति' कविता से

(७) सादृश्य—कुछ स्थलों पर सादृश्य के कारण भी अर्थ-परिवर्तन देखा जाता है। 'पाद' का अर्थ 'पैर' अथवा 'चरण' है। इसी आधार पर मनुष्य 'द्विपद' तथा पशु 'चतुष्पद' कहलाते है। मनुष्य पैरो पर खड़ा होता है और कविता का छंद पंक्तियों पर आधारित रहता है। अतः छंद की पंक्तियो को भी 'पाद' या चरण कहा जाने लगा। इसी आधार पर चारपाई (चार पैरवाली) तथा तिपाई (तीन पैरो वाली) शब्द प्रचलित हो गए। कविता के अधिकांश छंद चार पक्तियो के होते हैं अतः इनका एक 'पाद' चतुर्थांश हुआ। अब 'पाद' का सामान्य अर्थ 'चौथाई' है।

(८) प्रकरण-भेद—प्रकरणभेद से भी शब्दों के अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। यथा, 'सैंधवमानय' मे सैंधव शब्द का अर्थ 'नमक' और 'घोड़ा' दोनो ही हैं। यहाँ प्रसग से ही अर्थ का निर्णय होगा। रसोई के प्रसंग मे इसका अर्थ नमक होगा तथा युद्ध के प्रसग मे घोड़ा। इसी प्रकार 'शख चक्र युत हरि कहे होत विष्णु को भान।' 'हरि' शब्द के विष्णु, सूर्य, सिंह, बन्दर, मेढक, बादल आदि अनेक अर्थ हैं। किन्तु शख और चक्र सहित कहने पर हरि से विष्णु का ही भान होगा। मनुष्य के प्रसग मे 'कर' का अर्थ 'हाथ' होगा, हाथी के साथ मे 'सूंड', और सूर्य तथा चन्द्र के पक्ष मे 'किरण'। इसी प्रकार विद्यार्थी की 'कलम' तथा माली की 'कलम' मे अन्तर है और रत्नाकर जी कहते हैं :

दीजिए समस्या हमें कवित बनाइबे को,
कलम रकें तो सर कलम कराइए।

(९) अन्य भाषा से शब्दों को ग्रहण करना—जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा मे आते हैं तो अनेक बार उनके अर्थ मे परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत मे 'भूत' का अर्थ प्राणी था। श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान् कृष्ण कहते हैं 'ईश्वर,

सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' किन्तु हिन्दी में भूत का अर्थ 'प्राणी' के साथ-साथ 'प्रेत' भी है। मुर्ग शब्द पर हम पहले विचार कर चुके हैं। फारसी में इसका अर्थ 'पक्षी' है जबकि हिन्दी में यह एक पक्षीविशेष 'मुर्गे' के अर्थ में सीमित हो गया है। संस्कृत के 'पुंगव' और 'भद्र' हिन्दी में क्रमशः 'पोंगा' और 'भद्दे' के रूप में विद्यमान हैं।

(१०) तत्सम और तद्भव शब्दरूपों में अन्तर—भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रचलित हैं। ये शब्द मूलतः एक होते हैं तथापि अर्थ की दृष्टि से अनेक बार इनमें भिन्नता रहती है। उदाहरणार्थ—'गर्भिणी' का प्रयोग स्त्री के लिए होता है और भैंस 'गाभिन' होती है। 'स्तन' स्त्रियों के होते हैं और 'थन' पशुओं के। 'ब्राह्मण' शब्द शिक्षित ब्राह्मण के लिए प्रचलित है तथा 'बाम्हन' में तिरस्कार का भाव आ गया है। इसी प्रकार परीक्षक, पारखी, वार्ता, बात; तथा सौभाग्य और सुहाग आदि के अर्थ में पर्याप्त अन्तर है।

(११) अज्ञान—कई बार अज्ञान एवं असावधानीवश भी शब्दों के अर्थ में परिवर्तन देखा जाता है। उदाहरणार्थ, जायसी ने मूर्ख के लिए 'अमुरुख' तथा लुप्त के लिए 'अलोप' शब्द का प्रयोग किया है

सो अमुरुख बाउर औ अधा। (पदमावत ४०।३६)

भा अलोप पुनि दिस्टि न आवा। (पदमावत ३३२।२)

इसी प्रकार कोई ग्रामीण जब 'निखालिस' घी बेचता है तो उसका तात्पर्य शुद्ध घी से होता है जबकि निखालिस का अर्थ है जो खालिस (शुद्ध) न हो अर्थात् मिलावटी। ये प्रयोग आज सर्वथा विपरीत अर्थ को वहन कर रहे हैं।

अज्ञानतावश कभी-कभी शब्दों की पुनरावृत्ति भी देखी जाती है। इसी लिए लोग 'दर असल में' ('दर' का अर्थ 'में' है और 'दर असल' का अर्थ 'असल में') सिर में 'बादाम रोगन का तेल' डालकर 'गांधी कैप टोपी' लगाकर 'गुल मेहंदी के फूल' की खोज में निकलते हैं। विविध प्रकार विन्ध्याचल पर्वत तथा पावरोटी (पुर्तगाली भाषा में 'पाव' का अर्थ 'रोटी' है) भी इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

(१२) शब्दों का प्रयोगाधिक्य—शब्दों के अधिक प्रयोग से भी उनका अर्थ क्षीण हो जाता है। आज 'धन्यवाद' शब्द हर समय [illegible] के होठों पर रहता है। अतः इसकी गम्भीरता में पर्याप्त ह्रास हुआ है। [illegible], श्रीयुत् श्रीमान् और बाबू आदि शब्द भी प्रयोगाधिक्य के कारण अनेक बार निरर्थक से प्रतीत होते हैं। 'आवश्यक' शब्द में भी आज उतनी गुरुता नहीं रह गई है। अब अति आवश्यक, अत्यन्त आवश्यक तथा परम आवश्यक [illegible] का प्रयोग होने लगा है।

(१३) सामान्य के लिए विशेष प्रयोग—[illegible] का प्रयोग हो जाता है। उदाहरणार्थ [illegible] वर्दी [illegible] का अर्थ 'पुलिस' हो गया है। [illegible] के लिए 'गांधी टोपी', तथा [illegible] का प्रयोग [illegible] है। इसी प्रकार 'दाढ़ी और चोटी' का [illegible]

मुसलमान और चोटी का अर्थ हिन्दू है।

(१४) राष्ट्र या जाति के प्रति सामान्य मनोभाव—किसी राष्ट्र या जाति के प्रति हमारी भावना भी अर्थ को प्रभावित करती है। 'असुर' शब्द का उदाहरण अर्थादेश के प्रसग मे दिया जा चुका है। हिन्दू-मुस्लिम-सघर्षकाल मे दोनों धर्मावलम्बी एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखने लगे। परिणामत उर्दू मे हिन्दू का अर्थ 'गुलाम' हुआ। इसी प्रकार हिन्दुओं की दृष्टि मे मुसलमान का अर्थ बहुत कुछ 'भ्रष्ट' है। समाजवादी विचारधारा के प्रचार के साथ-साथ सामन्त, जमींदार, पूँजीपति आदि शब्दो के अर्थ मे भी पर्याप्त अवनति हुई है।

(१५) शब्दार्थसंबंधी अनिश्चय—भाषा मे कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ मे सूक्ष्म अन्तर रहता है। जनसामान्य इस अन्तर को समझने मे असमर्थ रहता है। अत एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द सहज ही प्रयोग मे आने लगता है। अनुकम्पा, अनुग्रह, दया, कृपा आदि ऐसे ही शब्द हैं। किसी को सकटग्रस्त देखकर उसका दुख दूर करने का भाव 'अनुकम्पा' है। अपने से छोटे व्यक्ति पर प्रसन्न होकर उसका उपकार या भलाई करना 'अनुग्रह' है। अपने हाथ मे शक्ति रहते पर भी हम किसी अपराधी को, उसके कष्ट का विचार करके, छोड दें या उसका दण्ड कम कर दें तो यह उस पर दया होगी। साधारणत दया के स्थान पर कृपा का भी प्रयोग देखने में आता है। पर दोनो मे अन्तर यह है कि दया तो केवल अधीनस्थ या छोटों पर ही होती है पर कृपा का व्यवहार छोटो के सिवा बराबरवालों के साथ भी होता है। (प्रस्तुत विवेचन श्री रामचन्द्र वर्मा की 'शब्दसाधना' नामक पुस्तक के आधार पर किया गया है।) अहकार, गर्व, घमड, दम्भ, दर्प आदि भी ऐसे ही शब्द हैं जिनका अर्थ-भेद अनिश्चित-सा है। अत एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग सहज ही हो जाता है।

(१५) संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति—मानव समय एव श्रम की बचत करना चाहता है। उसकी यह प्रवृत्ति भाषा के क्षेत्र मे भी कार्य करती है तथा अर्थ को प्रभावित करती है। उदाहरणार्थ, सस्कृत मे हाथी के लिए 'हस्तिन् मृग' का प्रयोग होता था जिसका अर्थ था 'हाथ (सूँड) वाला पशु', किन्तु बाद मे 'हस्तिन्' शब्द से ही हाथी का बोध होने लगा। इसी प्रकार 'रेलवे ट्रेन' (पटरी पर चलनेवाली गाडी), मोटर कार (यन्त्र से चलनेवाली गाडी), कैपिटल सिटी (प्रधान नगर) के स्थान पर इनके अर्द्धांश 'रेल' अथवा 'ट्रेन', 'कार', तथा 'कैपिटल' शब्द व्यवहार में प्रचलित है। बाइसाइकिल (दो पहियोंवाली गाडी) के स्थान पर आज इसके सक्षिप्त रूप 'बाइक' तथा 'साइकिल' ही प्रचलित है। इस प्रकार के परिवर्तन नित्य प्रति के व्यवहार मे आनेवाले शब्दो मे अधिक दिखाई पडते हैं।

ऊपर अर्थ-परिवर्तन के प्रमुख कारणों का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त मनोविज्ञान के मनीषी इनसे मिलते-जुलते कुछ और भी सूक्ष्म कारणों की ओर इंगित कर सकते है तथापि हमारा विश्वास है कि उक्त कारणो मे लगभग सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का समावेश हो गया है।

देवनागरी लिपि

(क)

प्रो महेन्द्र धींगड़ा

उद्भव, विकास, तथा सुधार-सम्बन्धी प्रयत्न

संसार की प्राय सभी प्रमुख भाषाओं का अपना लिखित रूप तथा लिपि है। भावनाओं, विचारों और संवेदनाओं को भाषा यदि मूर्त रूप देती है तो भाषा को चक्षु-गोचर बनाती है लिपि। प्रत्येक लिखित भाषा की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए उसकी अपनी वर्णमाला होती है। वर्णमाला की ध्वनियों को सांकेतिक चिह्नों में लिपि-बद्ध किया जाता है। यह सांकेतिक चिह्न ही लिपि कहलाते हैं। भाषा-विज्ञान-कोश के अनुसार "भाषा का आधार ध्वनि है, जो श्रव्य या कर्ण-गोचर होती है। इसे दृष्टि-गोचर कराने के लिए जिन प्रतीकचिह्नों का प्रयोग किया जाता है उन्हें लिपि या लिपि-चिह्न कहते हैं।"

है [illegible] है। इसी प्राचीन [illegible] के परिवर्तित रूप से आधुनिक देवनागरी का विकास हुआ है। [illegible] ने अपनी [illegible] भाषा का [illegible] १६ [illegible] लिपि का [illegible] है. [illegible] की दसवीं [illegible] की [illegible] लिपि में कुटिल लिपि की नाई—अ, आ, [illegible] ष और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते हैं और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ग्यारहवीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती जुलती है और बारहवीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है। ... ई० सन् की बारहवीं शताब्दी से लगातार अब तक बहुधा एक ही रूप में चली आती है।' (ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० ६६-७०)

इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि प्राचीन नागरी का ही विकसित रूप है।

देवनागरी लिपि में सुधार-सम्बन्धी प्रयत्न—बीसवीं शताब्दी तक देवनागरी का विकास अपने स्वाभाविक ढंग से होता आया लेकिन २०वीं शताब्दी में आकर देवनागरी लिपि की कुछ त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने सोच-समझकर, योजना बनाकर सुधार के प्रयास किये जिसके फलस्वरूप कई सुझाव सामने आये। साहित्यिक संस्थाओं, प्रादेशिक सरकारों, केन्द्रीय सरकार, तथा कुछ विद्वानों ने अपने सुझाव रखे जिनमें से प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं

देवनागरी लिपि में सुधार के लिए उल्लेखनीय प्रयास सर्वप्रथम महाराष्ट्र में हुआ। श्री महादेव गोविन्द रानाडे ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। मराठी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशनों में इस पर विचार किया गया। सावरकर, विनोबा भावे, काका कालेलकर, तथा गाँधी जी ने भी इस विषय पर विचार किया। विनोबा भावे ने अपने पत्र 'लोकनागरी' के माध्यम से देवनागरी के सुधारों के विषय में लोकमत जाग्रत किया।

देवनागरी लिपि को सरल बनाने के लिए सावरकर बन्धुओं ने 'अ' के आधार पर सब स्वरों को लिखने का सुझाव दिया, अर्थात् उसमें विभिन्न स्वरों की मात्राएँ लगाकर स्वरों की बारहखड़ी बनाई, जैसे अ आ अि अी अु आदि, पर केवल मराठी समाचार-पत्रों और वर्धा से प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों में ही इस सुझाव को अपनाया गया।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन (सन् १९३५) में महात्मा गाँधी के सभापतित्व में 'नागरी-लिपि-सुधार-समिति' बनाई गई जिसके संयोजक काका कालेलकर थे। समिति ने १९४१ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति के कुछ सुझाव इस प्रकार थे

(१) लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं। छपाई में शिरोरेखा का नियम बना रहे किन्तु विशेष स्थलों पर अक्षरों का भेद प्रकट करने के लिए शिरोरेखा-विहीन अक्षर भी प्रयुक्त हो सकते हैं।

(२) प्रत्येक वर्ण उच्चारण-क्रम से लिखा जाए। इस दृष्टि से : (क) 'इ' की मात्रा का वर्ण से पहले लगाना भ्रामक है किन्तु जब तक कोई संतोषजनक हल सामने न आए तब तक वह दाईं ओर लगाई जाए। (ख) ए, ऐ ओ, औ की मात्राएँ वर्ण के ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर कुछ हटाकर लगाई जाएँ, जैसे व॓र (वेर), व॓र (वैर), ब॓र (बौर) आदि। (ग) यदि संयुक्त व्यंजनों में पूर्व-व्यंजन 'र' हो तो रेफ व्यंजन के ऊपर न लगाकर उच्चारण-क्रम से कुछ बाईं ओर हटाकर लिखी जाए; जैसे ध॑म। (घ) उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ व्यंजन के ठीक नीचे न लगाकर कुछ हटाकर दाहिनी ओर लगाई जाएँ, जैसे, क ुटिल, फ ूल, क ृष्ण आदि। (ङ) अनुस्वार और अनुनासिक के चिह्न क्रमश: शून्य (०) और बिन्दु (ं) हों और वे वर्ण के ठीक ऊपर न लगाए जाकर दाहिनी ओर कुछ हटाकर लगाए जाएँ; जैसे, अ ंश, फा ंसना। (च) संयुक्त व्यंजन में यदि पर-व्यंजन 'र' हो तो उसे पूरा लिखा जाए, वर्ण के नीचे न लगाया जाए, जैसे, प्र (प्र), त्र (त्र) आदि। अन्य संयुक्ताक्षरों में उच्चारण-क्रम से ही वर्णों को लिखा जाए, जैसे, द्वार (द्वार), उद्धार (उद्धार), चिह्न (चिह्न) आदि।

(३) सावरकर बन्धुओं द्वारा सुझाई अ की बारहखड़ी को मान्यता दी जाए।

(४) 'ख' के स्थान पर 'ख' लिखा जाए क्योंकि 'ख' से कई बार 'र व' का भ्रम होता है।

(५) झ, भ, ण के स्थान पर मराठी झ, श, ण का प्रयोग किया जाए। 'क्ष' के स्थान पर 'क्ष' लिखा जाए पर बीजगणित आदि में क्ष ही चलता रहे।

(६) गुजराती, मराठी उड़िया, तथा द्रविड़ भाषाओं के मूर्धन्य 'ल' के लिए 'ळ' चिह्न का प्रयोग हो।

(७) ध और म का ध और भ से भेद प्रकट करने के लिए शिरोरेखाहीन अक्षर लिखते हुए ध और भ पर घुन्डियाँ लगाई जाएँ; जैसे ध, भ।

इन सुझावों को राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा ने तो व्यावहारिक रूप दिया किन्तु हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा ने इनका विरोध किया। फलत: ये कार्यान्वित न हो सके।

सन् १९४५ में काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा ने स्वयं लिपि-सुधार-सम्बन्धी सुझाव माँगे जिनमें श्री श्रीनिवास के सुझाव स्वीकृत हुए, पर इनमें अनेक वर्णों के रूप विकृत कर दिए जाने तथा अन्यान्य दोषों के कारण ये प्रचलित न हो सके।

छपाई की दृष्टि से डॉ० गोरखप्रसाद ने कुछ उपयोगी सुझाव दिए। उनके अनुसार उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ की मात्राओं तथा अनुस्वार और अर्धचन्द्र को कुछ दाहिनी ओर हटाकर लिखने से हिन्दी टाइप की संख्या ७०० से घटकर २०० रह जाएगी। उन्होंने अपने सुझावों को कार्यान्वित भी किया, पर वे प्रचार न पा गये।

सन् १९४७ में उत्तरप्रदेश सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्य[illegible] समिति का गठन किया। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और डॉ० मंगलदेव शास्त्री

सन् [illegible] में केन्द्रीय सरकार द्वारा [illegible] हिन्दुस्तानी शीघ्रलिपि तथा [illegible] समिति' के विचार-विमर्श करने के पश्चात् 'नरेन्द्रदेव समिति' ने कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय इस प्रकार लिए :

(१) ख की [illegible] न हटाई जाए।

(२) ह्रस्व इ की मात्रा भी दाईं ओर लगाई जाए। अन्य स्वरों की मात्राओं में कोई परिवर्तन न किया जाए।

(३) किसी व्यंजन के नीचे दूसरा व्यंजन न लगाया जाए।

(४) सुधार के नाम पर नागरी लिपि में अवांछनीय आमूल परिवर्तन न किए जाएँ। मशीन की सुविधा के लिए भी कोई अवांछनीय परिवर्तन न किए जाएँ।

(५) मुद्रण और टंकण (Typewriting) की सुविधा के लिए मात्राएँ, अनुस्वार, अर्धचन्द्र, तथा रेफ अपने वर्तमान स्थान से कुछ दाहिनी ओर हटाकर लगाए जाएँ।

(६) अनुस्वार के स्थान पर शून्य और अर्धचन्द्र के स्थान पर बिन्दु का प्रयोग हो।

(७) शिरोरेखा लगाई जाए।

(८) 'ग्र' का रूप 'अ' हो तथा छ, झ, ण, ध, भ, स के लिए केवल छ, झ, ण, ध, भ, स रूपों का प्रयोग हो।

(९) क्ष और ज्ञ के लिए क्रमशः क्ष और ज्ञ लिखे जाएँ।

(१०) अंकों में ६ का रूप ६ हो। शेष यथावत् रहे।

(११) मराठी ळ (मूर्धन्य ल) को वर्णमाला में शामिल कर लिया जाए।

(१२) अंगरेजी के सब विराम-चिह्न ले लिए जाएँ। केवल पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) का प्रयोग चलता रहे।

नरेन्द्रदेव समिति के पश्चात् उत्तरप्रदेश सरकार ने विभिन्न राज्यों के मुख्य मंत्रियों एवं विद्वानों की एक सभा बुलाई जिसमें कुछ परिवर्तनों के साथ नरेन्द्रदेव समिति के सुझाव स्वीकृत हो गए। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं क्ष के स्थान पर क्ष को स्वीकार नहीं किया गया। 'इ' की मात्रा दाहिनी ओर लगाने का सुझाव मान लिया गया पर उसे पूरी पाई के स्थान पर आधी पाई के ऊपर लगाने का निश्चय किया गया जिससे बड़ी 'ई' की मात्रा से भेद रहे, जैसे, होन्दी (हिन्दी)।

इन सुझावों के आधार पर उत्तरप्रदेश में छोटी कक्षाओं की कुछ पुस्तकें भी छपी, पर 'इ' की मात्रा के परिवर्तन से 'इ' और 'ई' की मात्राओं का अन्तर बहुत कम रह जाने से अस्पष्टता उत्पन्न हो गई। फलतः 'इ' की मात्रा का पहलेवाला रूप ही पुनः अपना लिया गया। शेष परिवर्तनों को भी सरकारी छापेखानों ने ही अपनाया, दूसरों ने नहीं। फलतः ये समस्त सुझाव भी अधिक प्रभावी सिद्ध न हो सके। लिपि-सुधार की दिशा में अब भी प्रयास जारी है। सम्भव है कालान्तर में कोई सर्वमान्य हल निकल आए।

देवनागरी लिपि

(ख)

डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता तथा अन्य भारतीय भाषाओं की दृष्टि से उपयुक्तता

आंशिक रूप में उर्दू को छोड़कर समस्त भारतीय भाषाओं में ए सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। इस एकता का आधार संस्कृत भाषा ही है। उत्तर भारत की समस्त भारतीय आर्यभाषाएँ तो संस्कृत मूल में उत्प हैं, द्रविड भाषाओं में भी तमिळ् को छोड़ शेष में संस्कृत शब्दावली का प्रच होता है। इस प्रकार यद्यपि तमिळ् भाषा मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का अनुपा कृत कम है तथापि जहाँ तक तमिळ् साहित्य का सम्बन्ध है वह अधिकांशत- साहित्य से प्रभावित एवं प्रेरित है। फलत: सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं । साहित्यों मे एक ऐसी मूलभूत एकता विद्यमान है कि यदि भिन्न-भिन्न लि व्यवधान हटकर सब भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि का व्यवहार होने एक भारतीय भाषाभाषी के लिए अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करन कष्टसाध्य न रहे। वस्तुत: लिपि को सीखने में लगनेवाले अत्यधिक समय औ के भय से ही अधिकांश व्यक्ति दूसरी भाषा सीखने से कतराते हैं। एक सामान्य के कारण मुद्रण और टंकण यन्त्रों की विविधता का झंझट भी समाप्त हो जाने से श्रम, एवं धन की बहुत बचत हो सकती है। इन्हीं सुविधाओं को दृष्टि में अधिकांश भारतीय विद्वानों ने समस्त भारतीय भाषाओं के लिए समान लि उपयोगिता को स्वीकार किया है। किन्तु यह लिपि कौन-सी हो इस सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने रोमन का किन्तु अधिकांश ने देवनागरी का इस दृ समर्थन किया है। इस सम्बन्ध मे थोड़ा विचार अपेक्षित है।

किसी लिपि की श्रेष्ठता पर तीन दृष्टियों से विचार किया जाना चाहिए

१. वैज्ञानिकता

२. व्यावहारिकता

३. सांस्कृतिक सम्पन्नता

देवनागरी लिपि

(ख)

डॉ० रामेश्वरदयालु अग्रवाल

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता तथा अन्य भारतीय भाषाओं की दृष्टि से उपयुक्तता

आंशिक रूप मे उर्दू को छोडकर समस्त भारतीय भाषाओं मे एक मूलभूत सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। इस एकता का आधार संस्कृत भाषा और वाङ्मय है। उत्तर भारत की समस्त भारतीय आर्यभाषाएँ तो संस्कृत मूल से उत्पन्न हुई ही हैं, द्रविड भाषाओं मे भी तमिळ् को छोड शेष मे संस्कृत शब्दावली का प्रचुर प्रयोग होता है। इस प्रकार यद्यपि तमिळ् भाषा मे प्रयुक्त संस्कृत शब्दो का अनुपात अपेक्षाकृत कम है तथापि जहाँ तक तमिळ् साहित्य का सम्बन्ध है वह अधिकांशत. संस्कृत साहित्य से प्रभावित एव प्रेरित है। फलत: सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं एव उनके साहित्यो मे एक ऐसी मूलभूत एकता विद्यमान है कि यदि भिन्न-भिन्न लिपियों का व्यवधान हटकर सब भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि का व्यवहार होने लगे तो एक भारतीय भाषाभाषी के लिए अन्य भारतीय भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना इतना कष्टसाध्य न रहे। वस्तुत: लिपि को सीखने मे लगनेवाले अत्यधिक समय और श्रम के भय से ही अधिकाश व्यक्ति दूसरी भाषा सीखने से कतराते हैं। एक सामान्य लिपि के कारण मुद्रण और टंकण यन्त्रों की विविधता का झंझट भी समाप्त हो जाने से समय, श्रम, एव धन की बहुत बचत हो सकती है। इन्ही सुविधाओं को दृष्टि मे रखकर अधिकाश भारतीय विद्वानो ने समस्त भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि की उपयोगिता को स्वीकार किया है। किन्तु यह लिपि कौन-सी हो इस सम्बन्ध मे थोडा मतभेद है। कुछ विद्वानो ने रोमन का किन्तु अधिकाश ने देवनागरी का इस दृष्टि से समर्थन किया है। इस सम्बन्ध मे थोडा विचार अपेक्षित है।

किसी लिपि की श्रेष्ठता पर तीन दृष्टियो से विचार किया जाना चाहिए:

१. वैज्ञानिकता
२. व्यावहारिकता
३. सास्कृतिक सम्पन्नता

(४) आशुलेखन के साथ स्पष्टता : उर्दू और रोमन लिपियों के पक्षपाती आशुलेखन की दृष्टि से उनका बड़ा समर्थन करते हैं किन्तु घसीट लिखे जाने पर ये दोनों लिपियाँ कितनी दुर्बोध हो जाती हैं यह सभी लोग जानते हैं। देवनागरी में मात्राओं आदि के प्रयोग के कारण लिखने में यद्यपि थोड़ा अधिक समय लगता है किन्तु उसकी कमी स्पष्टता के कारण पूरी हो जाती है। 'ख' में 'र' के निम्न भाग को 'व' तक खींचकर लिखने तथा ध भ में घुंडी लगाने के बाद भ्रम की कोई गुंजाइश नहीं रहती।

(५) तर्कसंगत वर्णविन्यास : हजारों वर्ष पूर्व देवनागरी की ध्वनियों का वर्गीकरण स्वर-व्यंजन के आधार पर करके उनको भी स्थान, प्रयत्न, मुखरता, मात्रा, घोषत्व, प्राणत्व आदि सूक्ष्म तत्त्वों के आधार पर वर्गीकृत कर दिया गया था। इस लिपि का वर्ण-विन्यास इतना क्रमिक है कि पहले स्वर, फिर व्यंजन,व्यंजनों में भी कण्ठ से ओष्ठ तक स्पर्श वर्ण पहले, फिर अन्तस्थ, और अन्त में ऊष्म। उर्दू और रोमन में वर्ण-विन्यास का कोई क्रम नहीं।

(६) वर्णों के नामकरण, उच्चारण, एवं लेखन में एकरूपता : संसार में एकमात्र देवनागरी ही ऐसी लिपि है जिसमें वर्णों का नाम एवं उच्चारण एक ही है तथा जो लिखा जाता है वही बोला जाता है, जैसे, अ आ इ ई क् ख् आदि। उर्दू में वर्ण का नाम यदि 'अलिफ' है तो उच्चारण प्रकरणानुसार अ, आ, इ, उ आदि। इसी प्रकार रोमन में वर्णों के नाम ए(a), के (k), एल् (l) आदि हैं पर उच्चारण है अ, क्, ल् आदि। स्वभावत ही इन लिपियों व वर्णों के लेखन और उच्चारण में इतना अन्तर है कि प्रत्येक शब्द की वर्तनी याद करनी पड़ती है तथा शब्दों का उच्चारण कोशों की सहायता से सीखना पड़ता है। देवनागरी के लेखन और उच्चारण में पूर्ण ऐक्य होने के कारण वर्तनी एवं उच्चारण की कोई समस्या खड़ी नहीं होती।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि देवनागरी जैसी वैज्ञानिक लिपि दूसरी नहीं।

व्यावहारिक उपयोगिता

वैज्ञानिकता के उपरान्त व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से विचार करें तो रोमन लिपि में टंकण, मुद्रण, दूरमुद्रण आदि की बहुविध यांत्रिक सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण बहुत-से विद्वान् इसका जोरदार समर्थन करते हैं, किन्तु प्रयास करने पर ये सुविधाएँ देवनागरी में भी उपलब्ध कराई जा सकती हैं। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर देवनागरी में अपेक्षित सुधार भी किए जा सकते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रोमन लिपि की सदोषता के कारण अंग्रेजी आदि भाषाओं का उच्चारण सीखने में बहुत समय लग जाता है, और फिर भी यदि कोई नया शब्द आ जाए तो शुद्ध उच्चारण को जानने के लिए कोश का सहारा लेना पड़ता है। देवनागरी में यह समस्या नहीं, अत संसार की किसी भी भाषा का सर्वथा शुद्ध उच्चारण इसके द्वारा सरलतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है। रोमन और देवनागरी लिपियों की तुलना करते हुए एक विद्वान् लिखते हैं, "रोमन से शिक्षा में क्रान्ति हो जाने,

साक्षरों की संख्या बढ़ने, तथा देश-विदेश से सबन्ध दृढ होने की बात स्वार्थ और कल्पना से परिचालित है। देवनागरी में ककहरा सीखने के बाद ही बच्चा उच्च स्तर की पुस्तकें पढ सकता है। क्या यह वरदान कम महत्त्व का है? किसी ने कहा है कि अंग्रेज बच्चों की प्राथमिक शिक्षा जहाँ दो-ढाई वर्षों में पूरी होती है वहाँ उसी स्तर का भारतीय विद्यार्थी देवनागरी के माध्यम से हिन्दी आदि भाषाएँ ढाई-तीन मास में लिख-पढ लेता है। यह लिपि की विशेषता ही कही जाएगी।"[1]

सांस्कृतिक सम्पन्नता

किसी लिपि के माध्यम से खुलनेवाले ज्ञानभाण्डार की समृद्धि उस लिपि को एक विशेष गौरव प्रदान करती है और उसे सीखनेवालों के मन में अत्यधिक उत्साह का संचार करती है। इस दृष्टि से यदि देखें तो देवनागरी लिपि का ज्ञान पाठक के सम्मुख संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, नेपाली आदि अनेकानेक भाषाओं के अत्यधिक समृद्ध ज्ञानभाण्डार को उन्मुक्त कर देता है। इस विशाल वाङ्मय से परिचित होने का अर्थ संसार के सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक रिक्थ से परिचित होना है।

इस प्रकार देवनागरी लिपि लिपिसम्बन्धी समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण उर्दू, रोमन आदि लिपियों से कहीं श्रेष्ठ है। समस्त भारतीय भाषाओं के लिए उर्दू लिपि के प्रयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी जैसे कुछ भाषाविद् पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण इस कार्य के लिए रोमन लिपि का समर्थन करते हैं किन्तु स्वाभिमानी जनों ने अनेक कमियों से भरपूर इस विदेशी लिपि को अपनाए जाने का कभी समर्थन न किया। फलत: व्यापक समर्थन के अभाव में रोमन लिपि के अन्धभक्तों की इच्छा सफल न हो सकी। अधिकांश विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग का समर्थन किया है। अत: निष्पक्ष दृष्टि से इस विषय पर थोड़ा विचार अपेक्षित है।

भारतीय भाषाओं की दृष्टि से देवनागरी लिपि की उपयुक्तता

उत्तर और दक्षिण भारत में प्रचलित समस्त लिपियाँ (एकमात्र उर्दू को छोड़ कर) ब्राह्मी लिपि से ही उद्भूत हैं पर इनमें सर्वाधिक महत्त्व देवनागरी को ही प्राप्त है। दसवीं शताब्दी तक इसका पूर्ण विकसित रूप दीख पड़ने लगा और तब से भारत के अधिकतर भागों में इसका निरन्तर प्रयोग होता आ रहा है। ओझाजी के शब्दों में यद्यपि "भारतवर्ष की समस्त लिपियों का मूल ब्राह्मी लिपि ही है किन्तु उन सबमें नागरी सार्वदेशिक है और बहुधा सारे भारतवर्ष में उसका प्रचार है। इतना ही नहीं यूरोप, अमरीका, चीन, और जापान आदि देशों में जहाँ-जहाँ संस्कृत का पठन-पाठन होता है वहाँ के संस्कृतज्ञों में भी इसी लिपि का आदर है। हिन्दी, मराठी, संस्कृत की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। बाकी की लिपियाँ एकदेशिक हैं"। दक्षिण में जहाँ तमिल, तेलगु आदि लिपियाँ चलती रहीं वहाँ भी नागरी को पर्याप्त सम्मान मिला। कोल्हापुर के

---

1. भाषा (त्रैमासिक), जून ६३, पृ० २६-३०

शिलारवंशीय राजाओं के शिलालेखों और दानपत्रों, पश्चिमी चालुक्यों तथा देवगिरि के यादवों के शिलालेख आदि नागरी में ही हैं जिसे वहाँ 'नंदिनागरी' कहते हैं। संस्कृत लिखने में इसका सर्वत्र उपयोग होता रहा है। अतः प्रचार की दृष्टि से यह भारतवर्ष की ब्राह्मी-उद्भूत समस्त लिपियों में सर्वश्रेष्ठ है।

वस्तुतः समस्त भारतीय भाषाओं की वर्णमाला प्रायः एक है, केवल कुछ भाषाओं में कतिपय विशिष्ट ध्वनियाँ पाई जाती हैं जिन्हें सूचित करने में देवनागरी लिपि किसी भी अन्य भारतीय लिपि से अधिक सक्षम है। उदाहरण के लिए, बँगला लिपि को लें तो जान पड़ेगा कि उसमें देवनागरी की अपेक्षा दो-एक वर्ण कम हैं, अधिक नहीं। जैसे, उसमें केवल 'ब्' ध्वनि है, 'व्' नहीं। इसका काम वहाँ 'भ्'(भेनिस=Venice) या 'ओम्र' (ओआर्ड्स्वोआर्थ=Wordsworth) से चलाया जाता है। असमी के लिए भी बँगला लिपि ही व्यवहृत होती है। अन्तर केवल इतना है कि 'र' के लिए असमी में प्रयुक्त चिह्न बँगला में भिन्न है। इसके अतिरिक्त असमी में 'व्' ध्वनि के लिए भी लिपि चिह्न है, जिसका बँगला में अभाव है। उड़िया और गुजराती में मूर्धन्य ल(ळ) मिलता है, जो मराठी में भी व्यवहृत होता है। दक्षिण की चारों द्रविड भाषाओं में तो इसका प्रचुर प्रयोग है ही। यह वस्तुतः वैदिक 'ळ' ही है। इस ध्वनि को छोड़ उड़िया और गुजराती की शेष ध्वनियाँ नागरी से भिन्न नहीं। सात-आठ वर्णों को छोड़ गुजराती के शेष वर्णों की तो बनावट भी नागरी-जैसी ही है। मुख्य अन्तर शिरोरेखा का है जो कि अब महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि आजकल बहुत-से लोग हिन्दी में भी हस्तलेखन में शिरोरेखा छोड़ देते हैं। मराठी में कुछ ध्वनियाँ विशिष्ट हैं; जैसे त्स(च), द्ज़ (ज़), भ् (झ) फ (फ), ज (ज) आदि, पर ध्वनियों की यह विशिष्टता केवल उच्चारण तक ही सीमित है, लेखन में उन्हें क्रमशः च, ज, झ, फ, ज आदि के रूप में ही लिखा जाता है। पहले मराठी के लिए मोडी लिपि का प्रयोग होता था किन्तु अब देवनागरी ही व्यवहृत होती है। गुरुमुखी लिपि भी नागरी से बहुत समानता रखती है। उसमें मूर्धन्य ष नहीं है। उसके कुछ वर्ण नागरी के कुछ अन्य वर्णों का भ्रम उत्पन्न करते हैं; जैसे गुरुमुखी 'स' नागरी 'म' का, गुरुमुखी 'घ' नागरी 'ध' का, गुरुमुखी 'थ' नागरी मूर्धन्य 'प' का, गुरुमुखी 'फ' नागरी 'ढ' का, गुरुमुखी 'म' नागरी 'भ' का, इत्यादि। पंजाबी की सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण कुछ विशिष्ट प्रकार का अर्थात् वर्गीय प्रथम और चतुर्थ वर्णों के बीच का होता है, जैसे 'भ' का उच्चारण प और भ के बीच का होता है आदि, पर लेखन में वह सूचित नहीं किया जाता इसलिए उसकी वर्णमाला नागरी से भिन्न नहीं। अँगरेजी शासन से पहले सिन्धी के लिए देवनागरी लिपि का व्यवहार होता था किन्तु अँगरेजों ने मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए अरबी लिपि को अपनाया। अब विभाजन के बाद भारतवर्ष में बसे सिन्धी लोग अपने ग्रन्थों के लिए देवनागरी का ही उपयोग कर रहे हैं। सिन्धी भाषा में चार ध्वनियाँ विशिष्ट हैं। वे हैं अंतःस्फुट व्यंजन ग, ज, द, ब। इन्हें सूचित करने के लिए इनके नीचे पड़ी रेखा का व्यवहार किया जा रहा है, अर्थात् इन्हें ग ज द ब के रूप में

लिखा जा रहा है । कश्मीरी के लिए पहले शारदा लिपि प्रचलित थी जो ब्राह्मी-उद्भूत होने के कारण देवनागरी से समानता रखती थी । अब वहाँ अरबी लिपि का व्यवहार हो रहा है । कश्मीरी मे कुछ विशेष ध्वनियाँ है जिन्हें नागरी वर्णमाला में विशेष चिह्नो के प्रयोग द्वारा भली भाँति व्यजित किया जा सकता है जैसा कि केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने किया भी है । वे विशेष ध्वनियाँ है :

(१) ह्रस्व ए और ओ ।

(२) विशिष्ट स्वर अ आ उ ऊ ।

(३) कुछ शब्दो के अन्त मे आनेवाले अत्यल्प इ और उ ।

(४) कश्मीरी चवर्ग च, छ, ज, झ (जिन्हें नीचे पडी रेखा डालकर व्यजित किया जाता है) ।

उर्दू की विशिष्ट ध्वनियो को वर्ण के नीचे बिन्दु लगाकर लिखा जाता है ; जैसे, क़, ख़, ग़, ज़, फ़, फ़ ।

अब दक्षिणी भाषाओं पर भी थोड़ा विचार अपेक्षित है । चारों द्रविड भाषाओं में (कश्मीरी के समान) ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का व्यवहार होता है जिसके लिए नागरी लिपि में अब चिह्न बन गए है । द्रविड भाषाओं के मूर्धन्य 'ल' के लिए नागरी में 'ळ' चिह्न है ही, जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। चारो द्रविड भाषाओं की विशिष्ट 'र' ध्वनि के लिए 'ऱ' या 'र' का, तमिऴ् और मलयालम की विशिष्ट 'न' ध्वनि के लिए 'ऩ' या 'न' का, तथा तमिऴ् और मलयालम की अवशिष्ट ध्वनि के लिए क्रमश 'ळ' और 'ष' का व्यवहार होता है ।

इस प्रकार थोडे विशिष्ट चिह्नो के प्रयोग द्वारा देवनागरी के माध्यम से समस्त भारतीय भाषाओं को बडी सुविधा और प्रामाणिकता के साथ लिखा जा सकता है । अत एकमात्र नागरी ही ऐसी लिपि है जो समस्त भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बनने की क्षमता रखती है ।